

पहला अध्याय

साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन : नये
आयाम

साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन : नये आयाम

हम जानते हैं कि, समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज के संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक रूप पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत करता है। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन क्यों करना है? कैसे करना है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर ढूँढते-ढूँढते सबसे पहले हम साहित्य और समाज की अवधारणा पर पहुँचते हैं। साहित्य और साहित्यकार समाज का एक अंग होने के कारण अपना संपर्क जनता से रखता है। साहित्य, जगत और जीवन की व्याख्या है। जो वृत्तियाँ जीवन की समस्त क्रियाओं का मूलस्रोत है वे ही साहित्य को जन्म देती हैं। समाज पर साहित्य के व्यापक एवं गंभीर प्रभाव के कारण उसके अध्ययन का समाजशास्त्रीय महत्व है।

१.१ साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन क्यों और कैसे?

साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन नवीन दृष्टिकोण का फल है। अध्ययन की एक सामान्य पद्धति के अनुरूप साहित्य के समाजशास्त्र के अतीत में झाँक लेने की ज़रूरत है। उसका आविर्भाव १७-१८ शती में बताया गया है। पर इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेख्य नाम है मैडम दि स्टैले (१७६६-१८१७)। इसके पहले विको अपनी पुस्तक 'नया विज्ञान' में (१७२५) तथा हर्डर (जर्मन दार्शनिक) समाज और साहित्य के संबन्धों की चर्चा कर चुके थे। दूसरा महत्वपूर्ण नाम है फ्रांसीसी इतिहासकार तेन का। तेन के पहले एडम स्मिथ, हीगेल, स्पेंसर भी साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर अपना विचार व्यक्त कर चुके थे। इसके अलावा सैद्धान्तिक दृष्टि से कई प्रकार के चिंतन, मनन हुआ है। हबर्ट स्पेंसर का सन् १८७८ में इंग्लैण्ड में 'Principal of Sociology' नामक पुस्तक प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने समाजशास्त्र के ऑर्गेनिक विकास की बात कही तथा सामाजिक सिद्धान्त को विकसित किया। अमेरिका में लेस्टर वार्ड का 'गतिशील

समाजशास्त्र' १८८३ में, मोरिस गिनस्वर्ग का 'समाजशास्त्र' १९६३ में, टी.बी. बॉटमोर का समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन) १९७२ में, रामकृष्ण मुखर्जी का 'sociology of Indian society' १९७९ में, वि.टी गुप्ता का 'साहित्य का समाजशास्त्र' अवधारणा सिद्धान्त एवं पद्धति' १९८२ में, मैनेजर पाण्डेय का 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' १९८९ में, केन्स बरोन का 'Introducing sociology' १९९५ में, सजेटून के शर्मा का 'Fundamental of sociology' १९९६ में, एस.एल दोषी का 'आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त २००२ में, आन्द्रे बेतेइ का 'समाजशास्त्र उपागम और विधि' (अनु.डॉ. विप्र कुमार शर्मा) २००५ में, राम अहूजा और मुकेश अहूजा का 'समाजशास्त्र विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य' २००८ में, डॉ. हरिनारायण ठाकुर का 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र' २००९ आदि किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त इस विषय पर डंकन, हैरी, लेनिन, एस्कारपिट, हाको, माल्कम ब्रेडबेरी, जोसेफ रुचेक, डाइना लारेन्सन एवं एलम स्विंगउड आदि की पुस्तकें दृष्टव्य हैं। इन लेखकों की केन्द्रीय विषय-वस्तु साहित्य को संस्था के रूप में प्रस्तुत करना है। जिस प्रकार समाज की अन्य संस्थाओं का निर्माण समाज करता है और समाज का निर्माण ये संस्थाएँ करती हैं, उसी प्रकार साहित्य का निर्माण समाज करता है और समाज का निर्माण साहित्य करता है। साहित्य के समाजशास्त्र का मुख्य संबन्ध साहित्यिक उत्पादन के साधनों, वितरण और एक खास समाज में विनिमय से है। भारतीय विचारकों में राधाकमल मुखर्जी, श्रीराम मनहोत्रा और हिन्दी में मैनेजर पाण्डेय, डॉ. नगेन्द्र, रांगेय राघव बि.टि. गुप्ता, डॉ. निर्मला जैन आदि ने समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर विचार किया है।

साहित्य के समाजशास्त्र में समाज, सामाजिक स्थिति, जीविका, आश्रय इन सबसे प्रभावित होने वाली मानसिकता का अध्ययन होता है। इमाइन दुर्खीम के अनुसार "The

aim of sociology is to treat social facts as things"^१। वे सामाजिक तथ्यों को वस्तुनिष्ठ तथ्यों पर केन्द्रित करके देखने के पक्षधर हैं। जिस साहित्यिक कृति में सामाजिक पक्ष की जितनी ही प्रमुखता होती है वही कृति समाज के लिए उतना ही उपयोगी सिद्ध होती है। सामाजिक परिवर्तन बढ़ने के साथ-साथ समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रासंगिकता भी बढ़ती जा रही है। अर्थात् समाज का दायरा जितना बढ़ता है उतना ही समाजशास्त्रीय आलोचना का क्षेत्र भी। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी विशेषताएँ और समस्याएँ होती हैं। समाज की जटिलता के साथ-साथ विभिन्न समस्याएँ भी आ जाती हैं। जैसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक...आदि। इन समस्याओं के अध्ययन हेतु अलग अलग शास्त्रों का भी निर्माण किया गया है। परन्तु ये सभी शास्त्र समाज के हर पहलू का समग्र रूप से अध्ययन करने में पर्याप्त नहीं है। इसलिए सबको एकत्रित करके समाजशास्त्र रूपी छत के नीचे ला खड़ा किया गया है। अध्ययन के लिए क्रमबद्ध समाजशास्त्र की आवश्यकता है इसलिए समाजशास्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डालना प्रसंगानुकूल होगा। मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों, रीतिरिवाजों तथा संस्थाओं पर समाजशास्त्र पूरा प्रभाव डालता है। उपर्युक्त विद्वानों ने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन को विभिन्न दृष्टिकोण के आधार पर देखने, परखने और अध्ययन करने का कोशिश किया है।

इससे स्पष्ट है कि साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्य के सभी विधाओं में हो रहा है। आज भी समकालीन साहित्यकारों ने इसका स्वागत किया है। साहित्य के समाजशास्त्र की मुख्य प्रवृत्ति समग्रतावादी है। वह साहित्य के सभी रूपों और पक्षों को समग्रता में समझने पर जोर देता है। इसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या है। अतः संक्षेप में कह सकते हैं कि साहित्यिक कृति की सामाजिक

१ Brown Ken, *An Introduction to Sociology*, p.2.

अस्मिता रचना के सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व में निहित होती है। इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र में उस पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश होती है जिसमें कोई रचना साहित्यिक कृति बनती है। केवल साहित्य के समाजशास्त्र में ही साहित्यिक-प्रक्रिया के अनुभवों और तथ्यों का व्यावहारिक विवेचन होता है, जिसमें साहित्य के लेखन, प्रकाशन, वितरण और उपभोग की पूरी व्यवस्था की भूमिका स्पष्ट होती है। समाजशास्त्र के अनेक रूप और शाखाएँ हैं। एक ओर ग्रामीण, शहरी और औद्योगिक समाजशास्त्र जैसे पुराने रूप चल रहे हैं। इनके साथ ही धर्म, जाति, परंपरा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक संरचना, शिक्षा, विकास और पेशा आदि के समाजशास्त्र का भी विकास हो रहा है। इसके अतिरिक्त नारी और दलित अध्ययन की दिशा में भी समाजशास्त्र की कई परिकल्पनाओं का उदय और विकास भी हो रहा है। आगे हम साहित्य के समाजशास्त्र का नये आयाम पर विस्तार से अध्ययन करेंगे। सब से पहले समाज और भारतीय समाज की विशिष्टताओं पर अध्ययन प्रस्तुत करना ही उचित है।

१.१.१ समाज और भारतीय समाज

व्यक्ति समाज की न्यूनतम परन्तु महत्वपूर्ण इकाई है। व्यक्ति किसी जाति, जनजाति, प्रजाति, लिंग, समुदाय या संप्रदाय का संरचनात्मक और जन्मजात सदस्य होता है। वह अपनी सामाजिक अंतः क्रिया और संबन्धों को सुचारु रूप से चलाने के लिए वर्ग, समूह, संस्थानों, एवं समितियों की रचना स्वयं करता है। जो विशेष प्रकार के रीति रिवाजों, मूल्यों तथा नियमों से संचालित होता है। हर एक समुदाय के अपना एक समाज होता है। जो एक दूसरे से भिन्न हैं। व्यक्ति इस तरह के समाज का अभिन्न अंग है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। इसके निर्माण के लिए पारस्परिक जागरूकता और सहयोग की आवश्यकता है।

विविधता भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता है। इसमें कई सांस्कृतिक क्षेत्र, भाषाएँ, बोलियाँ, धर्म, परंपराएँ, आचार-विचार, वेश-भूषाएँ, रीति, रहन-सहन, खान-पान आदि विविधताओं में एक एकता के कारण यह समाज सभ्यता का समाज है। भारतीय समाज परंपराओं से भरा हुआ है। परम्परा में निरंतरता होने के कारण ये अतीत को वर्तमान से जोड़ती है। परंपरा में नैतिकता और धर्म विधियाँ होती हैं, समाज के हर एक व्यक्ति की इसका पालन करना पड़ता है। इस धर्म विधि को नकारना बहुत कठिन है। हम जानते हैं कि भारत अनेक धर्मों का है। जैसे हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि। योगेन्द्र सिंह ने भारतीय समाज के चार बड़े लक्षण बताये हैं- 'सोपानिकता, (Hierarchy) एकीकृतता (Holism), निरन्तरता (Continuity) और अनुभवातीतता'^१ (Transcendence) इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज श्रेणी बद्ध है, समाज में व्यक्ति की पहचान संघ द्वारा है; यहाँ परंपरा का बहुत बड़ा स्थान है। ये परंपराएँ मूल्यों पर आधारित हैं। भारतीय समाज में हर एक धर्म, संस्कृति, परंपरा आदि का अपना अपना महत्व और पहचान है। भारतीय समाज में इस्लाम धर्म का बड़ा स्थान है। इस्लाम धर्म के लोगों को 'मुसलमान' कहते हैं। ये एकेश्वर पर विश्वास रखते हैं। इसका एकीकरण मुस्लिम जनता का एकीकरण है। इसका आधार ग्रन्थ कुरान तथा नियम शरीयत है। ये समतावादी, भाईचारे का धर्म है। इहलोक से ज़्यादा परलोक पर विश्वास रखता है। ईसाई धर्म भी मरियम और ईसा पर विश्वास रखते हैं। इसका आधार ग्रन्थ बइबिल है। बौद्ध धर्म महात्मा बौद्ध के दार्शनिक विचारों से प्रभावित धर्म है। ये मानवता, समता, भाईचारे पर विश्वास रखता है। ये परलोक, पुर्नजन्म, आडंभर विश्वास आदि को नहीं मानते। समाज में 'वसुधैव कुटुम्भकम्' की स्थापना करना इसका लक्ष्य है। भारतीय समाज का हिन्दू धर्म अपनी, विश्वास, परंपरा, संरचना आदि के कारण समाज में एक अलग पहचान रखता है। हिन्दू धर्म अनेकेश्वरवादी है तथा अनेक धार्मिक ग्रन्थों पर

१ एस. एल दोषी, *आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. ७९.

विश्वास रखता है। भारतीय समाज में हिन्दु धर्म ऐसा धर्म है, जिसमें कई जातियाँ और उप-जातियाँ हैं जो एक प्रत्येक सामाजिक संरचना में बाँधा हुआ है। भारतीय समाज का सबसे बड़ा अभिशाप जाति व्यवस्था है। सामाजिक संरचना में बाँधे हुए श्रेणी को वर्णव्यवस्था कहते हैं। इस वर्णव्यवस्था में पहला स्थान ब्राह्मणों का है, इनका कार्य है, वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन करना, यज्ञ करना और कराना, दान देना-लेना, ईश्वर में विश्वास रखना, दयावान होना, सत्य वचन कहना आदि। सभ्यता, धैर्य, पवित्रता आदि इनके गुण हैं। दूसरा स्थान क्षत्रियों का है, इनका कार्य है, प्रजा की रक्षा करना, शूर-वीर होना, यज्ञ करना, उदारता, प्रभाव, साहस, बल, शासन-शक्ति, आत्म-संयम आदि इनके गुण हैं। तीसरा स्थान वैश्यों का है, इनका कार्य है, गाय आदि पशुओं की रक्षा करना, खेती, वाणिज्य-व्यवसाय करना, यज्ञ करना, देश की उन्नति करना, धर्म, अर्थ तथा काम इस त्रिवर्ग का सदुपयोग करना, परिश्रम, सावधानता, दूरदर्शित, विवेक, दान आदि इनके गुण हैं। चौथा स्थान शूद्रों का है, इनका कर्तव्य उक्त तीन वर्णों की सेवा करना है। विनम्र बने रहना, आज्ञा पालन, स्वामीभक्त, आदर, परिश्रम आदि इनके गुण हैं। इसी दलित शूद्रों को उच्च वर्ग के लोगों ने सदियों से सताकर गुलाम बना दिया। भारतीय समाज व्यवस्था में व्यक्ति की योग्यता तथा श्रेष्ठता जन्म के आधार पर तय हो जाती है। डॉ. बाबा साहब अंबेडकर स्पष्ट रूप में बताते हैं कि “भारतीय समाज का ताना-बाना अभी भी जाति व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिन्दु (यहाँ इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जिस जाति में जन्म लेता है, उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति माँ की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है”^१।

१ सं. श्याम सिंह शशि, डॉ. अंबेडकर वाङ्मय खंड ९, पृ-२१-२२.

भारतीय समाज का महत्वपूर्ण भाग दलित समाज है, ये समूह जनसंख्या के अस्सी प्रतिशत है। दलित वर्ग के जीवन यापन, संस्कृति, दूसरे समाज से अलग है। सदियों से दलित वर्ग उच्च जातियों द्वारा फेंकी हुई कपड़े, रोटी और अपमान झेलकर जीते थे। अब वे ये अत्याचार सहने के लिए तैयार नहीं हैं। पश्चिमी सभ्यता, और भारत की उत्तर-आधुनिक समाज ने जो संदेश दिया है, उनके अनुरूप दलित वर्ग आज जाग उठे हैं, और समाज की मुख्य धारा बनने की कोशीश में है। इसके अलावा भारतीय समाज में जंगल और पहाड़ों में रहने वालों को आदिवासी कहते हैं। भारत के लोग रिपोर्ट के अनुसार आदिवासी वर्गव्यवस्था में नहीं आते। इनकी परंपरा हिन्दू परंपराओं से जुड़ा है। इन समूहों की संस्कृति, संस्कार, भाषा, जीवन-यापन, विश्वास आदि अन्य समाजों से अलग है। इस तरह भारतीय समाज विशाल एवं वैविध्य पूर्ण समाज है। इसी विविधता भारत को अन्य देशों से अलग कराते हैं।

१.१.२ समाज : अर्थ एवं परिभाषा

‘समाज’ शब्द का पर्यायवाची शब्द 'Society' है, यह शब्द 'Socius'^१ लैटिन शब्द से बना है, जिसका अर्थ संगी-साथी, मित्र है। जबकि संस्कृत में ‘सम् + अज् + धत्र’^२ से समाज शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। जिसका अर्थ सभा, मिलन, मण्डल, गोष्ठी, समिति, परिषद, संख्या, समुच्चय, संग्रह तथा दल है। ‘समाज’ के लिए 'Societus' तथा 'socio' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।^३ अनेक विद्वानों ने अपने ढंग से समाज को परिभाषित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकआइवर आर.एम और पेज चार्लस एच. ने अपने ग्रंथ ‘सोसाईटी: एक इन्टरॉड्युक्टरी अनालिसिस’ में समाज को “सामाजिक

१ सुकुमारन नायर, हिन्दी- हिन्दी- अंग्रेज़ी- मलयालम शब्दकोश -पृ. ८२०

२ डॉ. नामदेव उत्कर, साहित्य शास्त्र- -पृ. ४८ (से उद्धृत)

३ वहीं

सम्बन्धों का जाल कहा है”^१। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने “मनुष्य सामाजिक प्राणी है”^२।
है”^३। ऐसा कहकर मनुष्य की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत किया है।

अनेक व्यक्तियों के संबन्ध को समाज कहते हैं। समाज सामाजिक संबन्धों का समूह है चूँकि सामाजिक संबन्ध अमूर्त है, अदृश्य है, अगोचर है। अतः समाज भी अमूर्त है। यह अनुभव का ही विषय है। “मनुष्यों के समूह को समाज नहीं कहा जाता अपितु समूह के अन्तर्गत व्यक्तियों के संबन्धों की व्यवस्था का नाम समाज है”^३।

स्पेन्सर का मत है - “समाज कुछ व्यक्तियों का संघटित नाम नहीं है मगर एक विशिष्ट ‘सत्ता’ है जो उससे संबन्धित व्यक्तियों की व्यवस्था करती है”^४। अतः समाज स्थिर और जड़ व्यवस्था नहीं अपितु निरन्तर प्रगतिशील और विकासशील प्रक्रिया है। यह मानव की सामूहिक प्रज्ञा का विकसित भौतिक स्वरूप है। गिडिंग्स का कहना है कि- “समाज एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबन्धों का योग है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर संबद्ध है”^५।

समाज के प्रत्येक सदस्य के स्वार्थ जहाँ एक होते हैं वहाँ उसकी ऐसी कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसे अन्य समाजों से अलग करती हैं। ये विशेषताएँ उसकी अपनी निजी और व्यक्तिगत न होकर उसकी समाज की देन होती हैं। इसी तत्व को ध्यान में रखकर पाश्चात्य सामाजशास्त्री जिन्सवर्ग कहते हैं- “समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो

१ डॉ. नामदेव उत्कर, साहित्यशास्त्र- , पृ. ४८ (से उद्धृत)

२ वहीं

३ Coroll, D.Wright, *Outline of practical sociology*, It is not a group of people, it is the system of the relationship that exist between the individuals of the group. p.5.

४ Spenser, H. *Principles of Society*, The society is not merely a collective name for a number of individual but is a distinctive entity transcending the individuals belongs to. p. 435.

५ Gidding, F.H. *Principles of sociology*, Society is the union itself, the organisation the sum of formal relations in which associating individuals one sound together. p. 3.

किन्ही संबन्धों या तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन्हें उन दूसरों से अलग करता है जो इन संबन्धों में शामिल नहीं होते अथवा जो उनसे व्यवहार में भिन्न है”^१। विख्यात विचारक पारसन्स मानव संबन्धों की जटिलता के रूप में समाज को परिभाषित करते हैं। “समाज को उन मानव संबन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुए हैं और वे कार्य साधन व साध्य के संबन्धों के रूप में किये गये हो चाहे वे यथार्थ हो या चिन्तित”^२। लिन्टन ने ‘समाज’ की परिभाषा इस प्रकार दी है - “एक समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो पर्याप्त समय तक साथ-साथ रहकर कार्य कर चुके हैं या स्वयं को सुपरिभाषित सीमाओं में आबद्ध करके एक सामाजिक इकाई के रूप में विचार करते हैं”^३।

सामुअल कोरनिंग के अनुसार - “समाज ऐसे मनुष्यों का समूह है जिसमें परस्पर सामाजिक परंपराओं, रीति रिवाजों और जीवन यापन के प्रकार या समान संस्कृति तथा उसके सदस्यों के अन्दर समाज से संबन्धित होने की भावना विद्यमान हो।”^४ गिंसबर्ग ने ‘समाज’ को इस प्रकार प्रस्तुत किया - “एसे व्यक्तियों के समवाय को समाज कहा जाता है जो कि कतिपय संबन्धों या बरताव की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हुए हैं, जो व्यक्ति

१ Morris Ginsberg, *Sociology*, A society is a collection of individuals united by certain relations or modes of behaviour which mark them off from others, who do not enter into these relations or who differ from them in behaviour. p. 4.

२ *Pentagon Press Vol. XIV*, Society may be defined as the total complex of human relationship in so far as they grow out of action in terms of means and relationship intrinsic as system policy. p. 231.

३ Linton, R, *The study of Man*, Any group of people who lived and worked together long enough to get themselves organised or to think of themselves as a social unit them well defined limits p.91.

४ सामुअल कोरनिंग, *समाजशास्त्र* (अनु.) डॉ. एस. पि. जैन, पृ. १९-२०.

इन संबन्धों द्वारा संबन्ध नहीं होते या जिनके बरताव भिन्न होते हैं वे इस समाज से पृथक होते हैं।”^१

आर.ई.पार्क एवं इ. डब्ल्यू बर्गस ने समाज को यों परिभाषित किया है - “समाज मानव के समूहिक व्यवहार के लिए आवश्यक घटनाओं, रूढ़ियों, परंपराओं और मनोभावों, आदतों एवं संस्कृति की सामाजिक विरासत है।”^२

उपर्युक्त अर्थ एवं परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तियों का समूह ही समाज है इसमें अनौपचारिक संबन्धों का योग रहता है। भिन्न-भिन्न धर्म, भाषा, संस्कार के लोग यहाँ होते हैं। समाज में उपसमूह भी होते हैं। अतः समाज अनेकरूपी है।

१.१.३ समाजशास्त्र की पृष्ठभूमि

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता मिलनशीलता या सामाजिकता है। मनुष्य में अन्तर्निहित इस मिलनशीलता के कारण वह एक दूसरे के संपर्क में आता है। उसका समाज से कटकर अकेला रहना संभव नहीं। मनुष्य के आपसी संबन्ध, उनकी पारस्परिक प्रतीति, सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया आदि उसमें निहित सामाजिकता के कारण ही संभव होता है। ये सब मनुष्य के समाज में ही रहने की मनोवृत्ति के सबसे महत्वपूर्ण तत्व हैं। मानव जीवन के विभिन्न सामाजिक पहलुओं का आकलन करनेवाले सामान्य सामाजिक विज्ञान को, पाश्चात्य एवं भारतीय मनीषियों ने

१ Ginsberg, *Sociology*, A Society is the collection of individuals united by certain relations of modes of behaviour which mark them from others, who do not enter into those relations or who differ from them in behaviour. p.8.

२ Park, P.E & Burgess, E.W. *Introduction to the Science of Sociology*, The sociology heritage of habit and sentiment folkways and morals which are incident or necessary to collective human behaviour, p. 161.

समाजशास्त्र नाम से अभिहित किया है। समाजशास्त्रीय अध्ययन में मानव चरित्र का सूक्ष्म अध्ययन और विश्लेषण होता है। समाजशास्त्र का काम समाज के सिर्फ एक पहलू पर विचार करना नहीं अपितु समाज की हर समस्या का समुचित अध्ययन करना है।

समाजशास्त्र एक विशिष्ट विषय के रूप में सन् १८३८ में प्रारंभ हुआ। समाजशास्त्र का वर्तमान रूप आधुनिक समाजशास्त्र के पिता फ्रेंच दार्शनिक 'अगस्ट कौंटे' ने मानव समाज के अध्ययन के संदर्भ में किया। अगस्ट कौंटे के अतिरिक्त और भी समाजशास्त्री है जो समाजशास्त्र के प्रवर्तकों की मुख्य धारा में आते हैं वे हैं, फ्रांस के दुर्खिम, रेमंड विलियम्स, इंग्लैंड के स्पेन्सर, जर्मन निवासी मेक्स बेवर आदि। अध्ययन के क्षेत्र में १८७९ ई में अमेरिका में पहली बार समाजशास्त्र को स्थान दिया गया। उसके पश्चात् १८३९ ई में फ्रांस में, १९०७ ई में ब्रिटेन में, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात पोलैण्ड और भारत में १९२५ ई में ईजिप्त और मैक्सिको में तथा १९७४ ई में स्वीडन में इस शास्त्र का अध्ययन कार्य आरंभ हुआ। इस प्रकार अध्ययन एवं अध्यापन के क्षेत्र में समाजशास्त्र का विकास धीरे-धीरे होने लगा। अतः हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र एक ऐसा सशक्त माध्यम माना जाता है जो समाज का खण्ड-खण्ड परीक्षण करके उसकी प्रवृत्तियों की असली चित्र खींचता है।

१.१.३.१ समाजशास्त्र

समाजशास्त्र समाज के विभिन्न वर्गों तथा उनके सामाजिक जीवन का सुव्यवस्थित अध्ययन है। इसका उद्भव ज्ञान के प्रत्यक्ष स्तर-विश्लेषण की भावना से हुआ। समाजशास्त्रीय विश्लेषण पद्धति एक वैज्ञानिक पद्धति है। इसका संबंध मनुष्य के समूचे सामाजिक जीवन और संपूर्ण मानव इतिहास से है। समाज, सामाजिक संबन्ध, सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक समस्याओं आदि विषयों पर चिन्तन मनन करना समाजशास्त्र का मुख्य ध्येय है। वह तथ्यों के अवलोकन, परीक्षण एवं विश्लेषण की प्रणाली है जो वस्तुनिष्ठ अध्ययन में आस्था रखती है। वस्तुनिष्ठता व्यक्ति के विश्वासों, आशाओं या

भय से स्वतंत्र रहनेवाली वास्तविकता है। समाज के विभिन्न संप्रदाय मानव चिन्तन के अजस्र स्रोतों का दोहन कर व्यक्ति और समाज के संबन्धों के विश्लेषण में प्रयत्नशील रहे हैं। यही कारण है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन का स्वागत समकालीन साहित्य प्रेमियों ने भी किया है। इस बात की सर्व सहमति है कि एक ओर समाजशास्त्र समाज के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक स्वरूप पर प्रयुक्त होने वाले व्यापक सामान्यीकरण को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन मानव के नवीन दृष्टिकोण का परिणाम है। साहित्य विभिन्न वर्गों की इच्छाओं आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं। भारतीय साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में भारतीय परंपराओं, रूढ़ियों एवं विश्वासों के वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ी है। साहित्य की विवेचना में समाजशास्त्रीय पहलू का विशेष महत्व होता है। जहाँ समाजशास्त्र मानवीय संबन्धों, उनकी परिस्थितियों और परिणामों का अध्ययन माना जाता है वहाँ साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य के क्रिया-कलापों, क्षमताओं और आपदों का साहित्य के आधार पर विश्लेषण है।

मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों, रीति-रिवाजों तथा संस्थाओं पर समाजशास्त्र पूरा प्रभाव डालता है। अपने तमाम रूप-रस-भाव-सौंदर्य के बावजूद जब तक लेखक समाज के हित में, समाज के विकास में, समाज में वर्तमान स्थितियों के अध्ययन में समाज के समस्याओं से जूझने के काम में नहीं आएगा, तब तक साहित्य नहीं कहला जाएगा। साहित्य के इसी सरोकार का अध्ययन साहित्य का समाजशास्त्र करता है। समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज की वास्तविकता को जानना है।

१.१.३.२ समाजशास्त्र तथा अन्य शास्त्र : अन्तर संबन्ध

विज्ञान को समाज और प्रकृति के अध्ययन हेतु मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है एक सामाजिक अथवा मानवीय विज्ञान और दूसरा प्राकृतिक विज्ञान।

भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, जीवशास्त्र आदि प्रकृति की भौतिक व जैविक शक्तियों या घटनाओं का अध्ययन करता है, इसलिए ये सभी प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। व्यक्ति, समाज, सामाजिक संबन्ध और इनके विभिन्न पहलुओं के अध्ययन करनेवाले विज्ञान को सामाजिक विज्ञान या मानव विज्ञान के नाम से अभिहित किया गया है। इसके अन्तर्गत समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि आते हैं।

सामाजिक आवश्यकताओं को निश्चित करने में अर्थ का विशेष महत्व होता है। अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक कार्यों तथा तत्संबन्धी आर्थिक संस्थाओं के संघटनकार्य और परिवर्तन के अध्ययन का विज्ञान है। आर्थिक कार्यों के आधार पर समाज में व्यक्ति तथा संस्थाओं का एक आर्थिक संबन्ध निश्चित हो जाता है। पूँजीवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि जितनी ही आर्थिक व्यवस्थाएँ हैं वे सभी मनुष्य के सामाजिक दृष्टिकोण तथा उसकी सामाजिक व्यवहार प्रणाली को प्रभावित करती है। सामाजिक संस्थाओं पर आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव पड़ता है। समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं को आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है तो अर्थशास्त्र में आर्थिक समस्या के सामाजिक आधार को ढूँढ़ने का प्रयास है। समाजशास्त्र और इतिहास दोनों का मूलभूत उद्देश्य मानव समाज का अध्ययन करना है। इतिहास मानव के सामाजिक जीवन, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक प्रगति के बाधक एवं उत्प्रेरक घटनाओं का अध्ययन करता है। महत्वपूर्ण घटनाओं का अध्ययन इतिहास का कार्य होता है। जबकि समाजशास्त्र का कार्य किन किन सामाजिक कारणों से यह घटनाएँ घटित हुई है इसका अध्ययन करना है। अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण समाजशास्त्र करता है। अंग्रेज़ी शब्द 'Anthropology' के लिए हिन्दी में नृतत्वशास्त्र शब्द का प्रयोग होता है। 'Anthropology' दो ग्रीक शाब्दिक अर्थ है। 'Anthropo' का अर्थ 'मानव' विषयक तथा 'logy' का अर्थ है 'अध्ययन'। इस प्रकार 'Anthropology' का शाब्दिक अर्थ है

‘मानव का विज्ञान’। नृतत्वशास्त्री ऐसे छोटे समाजों का अध्ययन करते हैं जिनका चरित्र उनके अपने समाज से काफी कुछ भिन्न हो। विकसित समाजों में भी नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन बढ़ चले हैं; ‘लघु समुदाय’ नातेदारी समूह इत्यादि का अध्ययन इसके प्रमाण है। नृतत्वशास्त्री आदिवासियों की स्थिति उनकी सभ्यता, संस्कृति आदि का अध्ययन करता है, तो समाजशास्त्री मानव के सामाजिक संबंधों एवं व्यवहारों जैसे मानव समाज के सभी पहलुओं का विवेचन विश्लेषण करता है और समस्याओं को सुधारने का प्रयास करता है। नृतत्वशास्त्री आदिम समाजों में अपने अध्ययन को सीमित रखता है, वह केवल उनकी समस्याओं का अध्ययन करता है, न कि समस्याओं को सुलझाने का। समाजशास्त्र वर्तमान सामाजिक जीवन (सभ्य समाज) पर प्रकाश डालता है तो नृतत्वशास्त्री भूतकाल (आदिम समाज) की ओर उन्मुख होता है। अर्थात् मानव के उद्भव, विकास, संस्कृति आदि ही उनका विषय होता है। कानून कायदे आदि सिद्धान्तों के अध्ययन को न्यायशास्त्र कहते हैं। न्याय व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य समाज में सुशासन स्थापित करना है। न्याय संहिता मुख्य रूप से समाज एवं सामाजिकों से संबन्धित होने के कारण उसका मूलाधार समाज के आदर्श, सामाजिक परंपराएँ आदि पर टिकी रहती है। राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र दोनों का घनिष्ठ संबंध है। समाज के बिना राजनीति का कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य तथा सरकार के स्वरूप और सिद्धान्त का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का विषय है। इसका कार्य सामाजिक जीवन की रक्षा तथा कल्याण है। राजनीति शास्त्र का क्षेत्र संकुचित है, उसमें मनुष्य के राजनैतिक जीवन और उससे संबन्धित समूह तथा संस्थाओं का अध्ययन होता है। समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र का आपसी संबंध है। नीतिशास्त्र मूल्यों और आदर्शों का अध्ययन करके समाज में उचित-अनुचित एवं नैतिक-अनैतिक व्यवहार का विवेचन करता है। नैतिकता की धारणा या अच्छाई-बुराई की धारणा प्रत्येक देश या काल में सामाजिक संगठन, समाज की प्रकृति आदि पर निर्भर होता है। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों अन्योन्याश्रित हैं। मनोविज्ञान

मनुष्य की आन्तरिक मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। इसके दो प्रमुख भाग हैं- वैयक्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान। वैयक्तिक मनोविज्ञान का विषय उन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन तथा विवेचन है जिनका उद्गम तथा स्रोत मनुष्य के व्यक्तित्व तक ही सीमित रहता है। मनुष्य की व्यक्तिगत, मानसिक प्रक्रियाओं, भावनाओं तथा दृष्टिकोणों का संबन्ध उसके व्यवहार से समझा जाता है। सामाजिक मनोविज्ञान का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत उन सभी मानवीय समस्याओं का अध्ययन होता है, जो सामाजिक रूप में प्रकट होता है। मनोविज्ञान में व्यक्ति के मन एवं व्यवहारों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है। जटिल मानव मन को सरल करके समझाना मनोविज्ञान का कार्य है। मनुष्य के सभी सामाजिक कार्यों के पीछे उसकी व्यक्तिगत भावनाएँ प्रेरणा प्रदान करती हैं जो मनोविज्ञान का विषय है। इसलिए मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र दोनों का पारस्परिक संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण है। समाजशास्त्र मूलतः बहुत हद तक एक दर्शनशास्त्रीय महत्वाकांक्षा के साथ पैदा हुआ था। इसका उद्देश्य मानव इतिहास के क्रम का लेखाजोखा लेना, यूरोपीय उन्नीसवीं सदी के सामाजिक संकट की व्याख्या करना और सामाजिक सिद्धांत प्रस्तुत करना है; जो सामाजिक नीति को निर्देशित करें। समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र कम से कम तीन मामलों में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जैसे, विज्ञान के दर्शन की तरह समाजशास्त्र का भी दर्शन हो सकता है। समाजशास्त्र और नैतिक तथा सामाजिक दर्शन में एक घनिष्ठ संबंध है। समाजशास्त्र सीधे दार्शनिक चिंतन की ओर ले जाता है। प्राणी के चारों ओर जो कुछ विद्यमान है वहीं उसका पर्यावरण है। पर्यावरण का संबन्ध मनुष्य के साथ ही नहीं बल्कि जड़-चेतन के साथ भी जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्र पर्यावरण में सामाजिक घटना का अध्ययन करता है। अर्थात् सामाजिक जीवन का अध्ययन भूगोल के सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति पर प्रकृति तथा भौगोलिक प्रभाव ज़रूर पड़ता है। जनता के निवास, स्थान, सामाजिक संपर्क, रीति रिवाज़, मान्यताएँ, सामाजिक परंपराएँ आदि प्राकृतिक कारणों से प्रभावित

होते हैं। अनुकूल पर्यावरण में मनुष्य का विकास होता है। इससे स्पष्ट होता है कि पर्यावरण में जो अन्तर आता है, उसकी छाप सामाजिक जीवन में भी पड़ती है। ग्रामीण समाजशास्त्र एवं नगरीय समाजशास्त्र दोनों मानव समाज से संबन्धित अध्ययन करता है। अन्तर इतना है कि दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। एक तो ग्रामीण परिवेश में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है तो दूसरा नगरीय परिवेश में। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन सब शास्त्रों के साथ समाजशास्त्र का अटूट संबन्ध है ।

१.१.४ साहित्य : अर्थ एवं परिभाषा

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। हम जानते हैं कि वह किसी देश के जातीय संस्कारों एवं विचारों का प्रतिबिम्ब है और मानव जीवन की व्याख्या भी है। “साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति ‘साहित्य’ + ‘यत्’ प्रत्यय के संयोग से हुई है। जिसका आशय है - ‘सहितस्य भावः साहित्य’ अर्थात् सहित होने के भाव”^१ सहित शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है - “सह अर्थात् साथ होना। अर्थात् शब्द और अर्थ का यथावत संभाव”^२। साहित्य का यह अर्थ अत्यधिक व्यापक है जिसके अन्तर्गत मानवीय बोध एवं भाव समाहित हो जाते हैं। “सहित का दूसरा आर्थ ‘हितेन सह सहितं’ अर्थात् हित के साथ होना। साहित्य वह है जिससे मानव हित का संपादन हो।”^३ डॉ. रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार “साहित्य का सहित शब्द मिलन भाव का सूचक है। वह (मिलन) भाव और भाव का, भाषा और भाषा का ग्रन्थ और ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन भी है जो कि साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य में संभव नहीं है।”^४ आचार्य

१ गुलाब राय- काव्य के रूप, पृ. ३

२ हिन्दी के साहित्य कोश, पृ.९२०

३ गुलाब राय, काव्य के रूप, पृ.३.

४ डॉ. विजयपाल सिंह, भारतीय काव्यशास्त्र, पृ. १६. (से उद्धृत)

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने “ज्ञान राशि के संचित कोश को साहित्य बतलाया है”^१ डॉ. नगेन्द्र का कहना है कि “साहित्य आत्माभिव्यक्ति है, आत्माभिव्यक्ति ही अनन्द है, रस है और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक है”^२ साहित्य शब्द की व्याख्या आदिकाल से होती आ रही है। हडसन, साहित्य को भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनका कहना है कि - “साहित्य उन सबका सजीव लेखा है जो कुछ मानव ने जीवन में देखा है जो कुछ उसके बारे में अनुभव किया है और जो कुछ उन पहलुओं के बारे में सोचा है जिसका हम सभी से तात्कालिक व स्थायी संबन्ध है। इस प्रकार वह भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है।”^३ उपन्यास साम्राट मुंशी प्रेमचन्द की दृष्टि में - “साहित्य जीवन की आलोचना है।”^४ स्पष्ट ही यह उक्ति मैथ्यू अर्नाल्ड की कविता की परिभाषा का पुनः कथन है, जो मूलतः इस प्रकार है- ‘Poetry is the criticism of Life.’

अतः साहित्य का संबंध मानव जीवन से है। मुक्तिबोध के अनुसार साहित्य जीवन की पुनर्रचना है। इस प्रकार साहित्य का कथ्य सामाजिक घटना है जो कि स्वयं में बहुत विस्तृत है। जब साहित्य भाषा जैसे सामाजिक माध्यम को अपनाता है और सामाजिक पूर्वानुभव से संबद्ध रहता है तो अवश्य ही सामाजिक वस्तु अथवा घटना उसके विषय का निर्धारण करती है। साहित्य का संपूर्ण कथ्य सामाजिक घटना है, चाहे वह क्रौंच दंपति के अचानक वियोग को आधार बनाकर रचा गया हो या आज के प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन पर आधारित किसी घटना का प्रतिफल न हो। सबके पीछे एक सामाजिक पूर्वानुभव या घटना काम करती है जो मनुष्य के स्वयं के जीवन के लिए दूसरों को भी

१ डॉ. विजयपाल सिंह, भारतीय काव्यशास्त्र,

२ डॉ. रामनिवास गुप्त, काव्यशास्त्र के मानदण्ड, पृ. १६.

३ वि.टी. गुप्ता, साहित्य का समाजशास्त्र अवधारण सिद्धान्त एवं पद्धति, पृ. ४९.

४ प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ. ९३.

जीवित देखने के भाव का मूल है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है - “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है”^१। साहित्य के सम्बन्ध में जैनेन्द्र कुमार का कथन है - “अब वह कुछ ऐसी वस्तु है, जो समाज को प्रतिबिंबित तो करे पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे, और इस भांति समाज को आगे बढ़ाने का काम भी करें। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह देता ही नहीं अब वह करता भी है। हमारी बीती ही उसमें नहीं है, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं”^२। प्रो. रघुपति सहाय ‘फिराक’ ने साहित्य को जीवन और जीवन को साहित्य माना है।^३

साहित्य जीवन, समाज और व्यक्ति का पथप्रदर्शक है। “जैसे हमारे भावों और विचारों को एकत्रित रखकर मानव जाति में एक सूत्रता उत्पन्न कर अथवा जो काव्य के शरीर स्वरूप शब्द और अर्थ को परस्परानुकूल द्वारा सप्रमाण बनाकर मानव जाति का हित सम्पादन करे वही साहित्य है”^४। कविवर रवीन्द्र ने अपनी संगीतमयी भाषा में साहित्य का सानिध्य मानव चरित्र से स्पष्ट करते हुए लिखा है कि:- “वही: प्रकृति एवं मानव चरित्र मनुष्य के भीतर प्रतिक्षण जो आकार धारण करते रहते हैं, जिस संगीत को ध्वनित करते रहते हैं, भाषा चरित वही चित्र एवं गीत साहित्य है”^५। साहित्य तब पूर्ण होता है जब उसमें जीवन की पूर्णता होती है।

१ डॉ. नामदेव उत्कर, *साहित्यशास्त्र*, पृ. ६४ (से उद्धृत)

२ वही, पृ. ६५

३ वही

४ डॉ. सतीश दूबे, *समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द साहित्य*, पृ.११.

५ वही, पृ. १२.

महात्मा गाँधी के शब्दों में “साहित्य वह है जिस तरह खींचता हुआ किसान भी समझ सके और साक्षर भी समझ सके”^१। उपर्युक्त अर्थ एवं परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य मानव की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है, साथ ही साहित्य और समाजशास्त्र का अटूट सांस्कृतिक संबंध है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हर एक काल और समय के अनुसार साहित्य की अवधारणा में परिवर्तन आया है।

१.१.५ समाजशास्त्र : अर्थ एवं परिभाषा

‘समाजशास्त्र’ शब्द अंग्रेज़ी के ‘सेशियोलॉजी’ का हिन्दी रूप है। ‘सोशियोलॉजी’ शब्द ‘सोशियो’ (Socio) और लॉजी (logy) के सहयोग से बना है। ‘सोशियो’ समाज के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो ‘लॉजी’ शास्त्र, ज्ञान अथवा विज्ञान के रूप में। आजकल प्रत्येक क्षेत्र में ‘लॉजी’ शब्द विज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है”^२। अतः यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु समाज ही है, तथा समाज का प्रतिफलन साहित्य में मिलता है। इस सभ्यता ने ही साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की ओर प्रेरित किया है। विभिन्न लेखकों ने ‘समाजशास्त्र’ को अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषित किया है।

समाजशास्त्र के जनक ‘अगस्त काँमते’ ने समाजशास्त्र को “Science of human association”^३ अर्थात् मानवीय संबन्धों का विज्ञान कहा है। सोरोकिन समाजशास्त्र को सामाजिक सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रारूपों और विभिन्न प्रकार के अन्तः संबन्धों के सामान्य विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं।^४ इमाइल दुर्खीम ने

१ डॉ. नामदेव उत्कर, *साहित्यशास्त्र*, पृ. ४५ (से उद्धृत)

२ डॉ. टी. मीना कुमारी, *शिवप्रसाद सिंह के कथा-साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन*, पृ. १५ (से उद्धृत)

३ Brown Ken, *An introduction to sociology*, p.2

४ P.A. Sorokin, *Cultural and personality*, "Sociology is generalising science of socio-cultural phenomena viewed in their generic forms, types and manifold interactions", p.6.

तथ्यों को वस्तुनिष्ठ तथ्यों पर केन्द्रित करके देखने के पक्षधर हैं'^१। केन ब्रौन ने "समाजशास्त्र आधुनिक समाजों के मानवसमूहों और सामाजिक जीवन का सुनियोजित तथा अध्ययन के रूप में मान लिया है।"^२ गिलन और गिलन ने "विस्तृत रूप में समाज शास्त्र को जीवित प्राणियों के एक दूसरे के संपर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अन्तः क्रियाओं का अध्ययन माना है।"^३ 'आर्थर फेयर बैक्स' ने समाजशास्त्र को अपने ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया है- "समाज शास्त्र (एक ऐसा) नाम है जिसका प्रयोग (कुछ अंशों में) किंचित पदार्थों के अपरिपक्व ढेर केलिए किया जाता है, जिसमें समाज के ज्ञान का समावेश होता है।"^४

आपसी संबन्ध समाज के सदस्यों को निकट लाती है। उनमें आत्मीयता उत्पन्न करती है, तथा एक दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी बनाती है। सीमित को विस्तृत करती है। समाज सह अस्तित्व की विकासमान प्रक्रिया है परन्तु समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है क्यों कि उसके कई उपखण्ड होते हैं जो मिलकर समाज की रचना करते हैं। डॉ. सूर्यप्रसाद चौबे ने लिखा है - "समाजशास्त्र समाज के गतिशील तथा स्थिर दोनों दशाओं में इसके संगठनों की संरचना और कार्य का अध्ययन करता है।"^५ एस. एम जोन्सन का कहना है कि "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक समूहों का अध्ययन करता है जो उनके आंतरिक स्वरूपों व संगठन के प्रकरणों का अध्ययन करता है जो इन स्वरूपों में

१ Brown Ken, *An introduction to sociology*, "The aim of sociology is to treat social facts as things".p 2.

२ Brown Ken, *An introduction to sociology*, "Sociology is the systematic (or planned and organised) study of human groups and social life in modern societies. It concenerd with the study of social institutions", p.4.

३ Gilling And Guillin, *Cultural Sociology*, "Sociology in its broadcast sense may be said to be the study of ineractions arising from the association of living beings", p.5

४ Arthur Fair Back, *An introduction to sociology*, Sociology is the name applied to a some what inmate mas of materials which embodies our knowledge of society", p.1.

५ डॉ. सूर्यनारायण चौबे, *समाजशास्त्र के तत्व*, पृ. ४.

होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है तथा जो समूहों के मध्य संबंधों का अध्ययन करता है।'^१

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र मानव और मानव की सामाजिक दिशा और दशा का विस्तृत अध्ययन है।

१.१.५.१ सामाजिक मानदण्ड और मूल्य

विद्वानों का कहना है कि सामाजिक मानदण्ड और मूल्य व्यक्ति के व्यवहार के मार्गदर्शक है। समाज में सामाजिक संबंध व्यक्तियों को एक साँचे में ढालते हैं। समाजशास्त्र के साहित्य में एक बहुत बड़ा भाग सामाजिक मानदण्ड और नियंत्रण का है। समाज की इस व्यवस्था का निरन्तर संगठित एवं नियंत्रित बने रहने का एकमात्र कारण सामाजिक संबंधों का नियंत्रण और संचालन है। सामाजिक मानदण्डों द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहार और कामकाज को व्यवस्थित और नियंत्रित रखते हैं। 'समाजशास्त्र-नई दिशाएँ' में लिखा गया है..... "संस्कृति ही मानदण्ड और मूल्यों को निर्धारित करती है। मनुष्य अपने दिन प्रतिदिन की गति-विधियों में कई स्थितियों (situation) में काम करता है। उसका एक व्यवहार राजनीतिक स्थिति में भी है। सामाजिक मानदण्ड किसी स्थिति में कैसा व्यवहार होता है, उसे निर्धारित करते हैं। ऐसी एक स्थिति जो विवाह की है, दुल्हन को मण्डप में बैठना है, सामाजिक मानदण्ड उसे एक विशेष प्रकार की पोशाक पहनने का सुझाव देते हैं। विवाह की स्थिति में उसे लाल साड़ी पहननी है, जूड़ा बाँधना है, अधिकतम सोने के आभूषण पहनते हैं और अपने चेहरे पर मेकप का भार ढोना है। वस्तु स्थिति यह है कि प्रत्येक स्थिति में समाज द्वारा निर्धारित मानदण्डों और मूल्यों का अनुपालन व्यक्ति को करना पड़ता है"^२ मानव जीवन में प्रत्येक आचार,

१ डॉ. सुधीष दूबे, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द साहित्य, पृ. १७.

२ दोषी, एस. एल, जैन, पी.सी, समाजशास्त्र नई दिशाएँ, पृ. ९०५

व्यवहार, रीतियाँ, एवं रूढियाँ प्रचलित हैं। बाद में इन व्यवहारों का सामाजिक मूल्य निर्धारित करते हैं। समाज व्यक्ति से बनता है, अतः इन्हीं व्यवहारों का पालन व्यक्ति को करना पड़ता है। जीवन की प्रत्येक स्थिति में समाज द्वारा निर्धारित मानदण्डों और मूल्यों का पालन व्यक्ति को करना पड़ता है। यह भी सर्वमान्य है कि जनरीतियाँ, रूढियाँ समाज को प्रभावित करते हैं। समाज के सदस्यों का मानदण्ड जनरीतियाँ हैं। इसके माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाये रखती है। जब नवीन सामाजिक शक्तियाँ उभरकर आती है, समाज में बदलाव आता है, तब नई जनरीतियाँ धीरे- धीरे समाज का अंग बन जाता है। जनरीतियाँ सामाजिक संरचना का मानदण्ड है जो समाज की व्यवस्था को सुचारु ढंग से चलाते हैं। यद्यपि ये समाज के लिए अनिवार्य नहीं है फिर भी अलिखित नियम जैसे समाज के सभी सदस्यों को इसका पालन करना पड़ता है। अतः सामाजिक मानदण्ड और मूल्य का महत्व समाज में सुस्थिर रहता है।

१.१.५.२ सामाजिक संरचना

समाजशास्त्र में दो आधारभूत धारणाएँ हैं- सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवस्था। सामाजिक संरचना से हमें समाज की बाहरी रूपरेखा के बारे में पता चलता है। भारतीय समाज में नातेदारी या बन्धुत्व है, धर्म है, अर्थव्यवस्था है, राजनीति है, कला और साहित्य है, इन सबके अन्तर्संबन्धों का अध्ययन संरचना करती है। सामाजिक संरचना बहुआयामी है। मेक्स वेबर ने सामाजिक संरचना की व्याख्या परिस्थिति, धन और शक्ति के आधार पर की थी। १९८० के बाद यही उपागम भारतीय संरचना के अध्ययन में लागू किया गया है। संरचना शब्द की परिभाषा एस. नडेल ने अपनी पुस्तक 'दि थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर' (१९५७) में उठाया था। "संरचना का तात्पर्य है - भागों (parts) का व्यवस्थित रूप से जमा होना। यह संरचना सामान्यतया

अपरिवर्तनशील होती है। जबकि इसके भाग साधारण रूप से परिवर्तनशील होते हैं।”^१ दूसरे शब्दों में ‘व्यक्ति के व्यवहार पर समाज का नियंत्रण है। लेकिन समाज बहुत विशाल है। इस समाज के विभिन्न नियम-उपनियम संस्था का रूप ले लेते हैं। इस भाँति देखें तो सामाजिक संरचना सामाजिक संबंधों की एक बनावट है और यह बनावट ही व्यक्तियों के व्यवहार को निर्धारित करती है और नडेल इन्हीं को सामाजिक संरचना कहते हैं”^२। संरचनात्मक अध्ययन में समाज के विभिन्न अंगों के परस्पर संबंधों को समझने का प्रयास किया जाता है।

१.१.५.३ सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था से समाज की आन्तरिक प्रक्रियाओं का बोध होता है। समाज के विभिन्न अंगों का अंतः संबंध सामाजिक व्यवस्था को जन्म देता है। सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण सबसे पहले पारसन्स ने अपनी पुस्तक ‘दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन’ में किया था। उन्होंने ‘दि सोशल सिस्टम’ (१९५९) नामक किताब में व्यवस्था को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। सामाजिक व्यवस्था समाज के विभिन्न अंगों को संतुलित करती है। इसके माध्यम से ही समाज की अंतः क्रियाओं को जाना जा सकता है।

१.१.५.४ सामाजिक संगठन और विघटन

सभी समाजों में किसी न किसी रूप में सामाजिक संगठन पाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य की आवश्यकताएँ उसकी अनुभूतियाँ और प्रस्तुतियाँ होती हैं। सामाजिक संगठन का मुख्य ध्येय सामाजिक कार्य को सुचारु ढंग से करना है। संरचना में पायी जाने वाली सभी परिस्थितियों की भूमिकाएँ इसमें आती हैं। जब सामाजिक संबंध टूट

१ एस. एल दोषी, *आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. ३६७.

२ वही

जाता है तब सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। जैसे भूकंप, अतिवृष्टि और प्राकृतिक प्रकोपों से बचने के लिए व्यक्ति एक स्थान को छोड़कर कहीं अन्य स्थान की ओर चला जाता है। इस प्रकार की परिवर्तित संस्कृति, प्रकृति और पर्यावरण भी सामाजिक विघटन का कारण बन जाता है।

१.१.५.५ सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संगठन को बनाये रखने के लिए समाज में व्यक्तियों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। समाज में व्यक्तियों को नियन्त्रित करने की इस प्रक्रिया को सामाजिक नियन्त्रण कहते हैं। गिलन और गिलन के अनुसार “सामाजिक नियंत्रण सुझाव, अनुनय, प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा प्रयोग आदि साधनों की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके द्वारा समाज किसी उप-समूह के व्यवहार की मान्यता प्राप्त प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है अथवा जिसके द्वारा समूह सभी सदस्यों को अपने अनुरूप ढालता है।”^१

सामाजिक नियंत्रण की यह प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है। अतः व्यक्तियों और समूहों को सामाजिक मूल्यों और आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना पड़ता है। भारतीय समाज धार्मिक समाज होने के कारण धार्मिक भावनाएँ और ईश्वर का भय व्यक्ति में सदैव होता रहता है। इसलिए सामाजिक नियंत्रण में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। विधियाँ, कानून, पुलिस, दण्ड आदि की अवधारणाएँ समाज में व्यक्ति के अनुचित कार्यों पर नियन्त्रण रखने हेतु बनाया गया है। तत्कालीन संदर्भ में इस तरह की अवधारणाएँ और नियंत्रण समाज और व्यक्ति के हित के लिए है या अहित के लिए, यह विचारणीय विषय है।

१ गिलन और गिलन, *कलचरल सोशियोलजी*, पृ. ५६९

१.१.५.६ सामाजिक परिवर्तन

परिवर्तन समाज की एक सहज प्रवृत्ति है। जब मनुष्य की आर्थिक स्थिति, रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा, शासन-प्रणाली आदि में बदलाव आते हैं, तब समाज में भी उसका प्रतिफलन पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध समाजशास्त्री गिलन और गिलन की राय उल्लेखनीय है कि “जीवन के स्वीकृत ढंग में जब अन्तर आने लगें, तो सामाजिक परिवर्तन हो जाता है, चाहे ये अन्तर भौगोलिक दशाओं में परिवर्तन के कारण आएँ, चाहे सांस्कृतिक साधनों, आबादी की रचना या विचार धाराओं में परिवर्तन के कारण आएँ जिनका सूत्रपात उसी जनसमूह ने स्वयं किया हो या कहीं अन्य से लिया हो”^१। अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया ही नहीं बल्कि एक सार्वभौमिक घटना है। आधुनिक समाज एवं आदिम समाज दोनों में परिवर्तन की गति भिन्न प्रकार की होती है। काल और समय के अनुसार सामाजिक परिवर्तन होता रहता है। समाज की अप्रत्याशित घटना भी सामाजिक परिवर्तन का कारण हो सकता है।

भारत में स्वतंत्रता से पहले सामाजिक परिवर्तन में तीव्रता नहीं थी। क्योंकि सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ राजनीति पर निर्भर नहीं बल्कि वे स्वयं थी। व्यक्ति स्वयं अपनी पहचान में नहीं आया था। वह किसी परिवार, गाँव, मोहल्ले या जाति के थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ राजनीति पर निर्भर हुए, तब से भारत में परिवर्तन की गति तेज़ हो गई। आंतरिक तथा बाह्य प्रक्रियाएँ जैसे-आधुनिकता, उत्तरआधुनिकता, वैश्वीकरण आदि इसकी तीव्रता के कारक बने। आज समाज पूँजीवाद, औद्योगिक और तकनीकी-तंत्र के समाज बन गया है। सारी दुनिया आदमी की मुट्ठी में सामाई हुई है। समाज के एक तरफ पूँजी के स्वामी है, और दूसरी तरफ पूँजीहीन जो दिहाड़ी पर अपना जीवनयापन करते हैं। साथ ही साथ शोषित वर्ग भी अपने समाज और

१ गिलन और गिलन, *कलचरल सोशियोलजी*, पृ. ५६९, ५६२.

संरचना में परिवर्तन लाना चाहते हैं। वे व्यक्तिगत पहचान के लिए अपनी कुशलता, प्रतिभा, और योग्यता, के आधार पर समान अवसर के हकदार बन गये हैं। आज व्यक्तियों की चिंता में बदलाव आयी है, वे सोचने लगे हैं। नए-नए अनुसंधान और आविष्कार हो रहे हैं। समाज शिक्षित होने लगे हैं। समाज के निचले स्तर के व्यक्ति भी 'स्व' की खोज करते हुए अपनी स्वतंत्रता में जो बाधाएँ हैं उससे प्रतिरोध करता है, यह सब सामाजिक परिवर्तन के कारण ही हैं। ग्रामीण समाज में परिवर्तन धीमी गति से है बल्कि नगरों में तीव्र गति से हो रहा है। सामाजिक परिवर्तन के मूल में अनेक तत्व विद्यमान है जैसे प्राकृतिक विनाशा, जनसंख्या, आंदोलन, संस्कृति, वैश्वीकरण आदि। आगे इन्हीं तत्वों का विश्लेषण करना संगत लगता है।

१.१.५.६.० सामाजिक परिवर्तन के कारण

सामाजिक परिवर्तन के कई कारण है।

१.१.५.६.१ सांस्कृतिक कारण

संस्कृति मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रमाण है। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में जो कुछ भी सहायक है वही संस्कृति है। हमारी मानसिक संरचना के कलुष भाव को निकालने का प्रयास ही हमें संस्कारवान बनाते हैं। इन संस्कारों से हमारी सांस्कृतिक चेतना का निर्माण होता है। यह चेतना वैयक्तिक होते हुए भी सामूहिक भी है। इस चेतना से मिली ऊर्जा से हम अपने जीवन के प्रति जो संकल्प है, अवधारणा है, दृष्टिकोण है उनमें अस्मिता का निर्माण करते हैं। ये अस्मिता ही हमारी आत्मा है। इस अर्थ में देखे तो राष्ट्र की आत्मा संस्कृति को माना जाता है। रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन है कि- "संस्कृति ज़िन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। संस्कृति सभ्यता की

अपेक्षा महीन चीज़ होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रही है जैसे दूध में मक्खन या फलों में सुगन्धि^१।

जीवन के संपूर्ण कार्य व्यापार से संस्कृति नाता जोड़ती है। परंपरा से अर्जित आदतें, मूल्य, कला, साहित्य, सुख-सुविधाएँ, भाषा, धर्म आदि संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। अतः इसमें परिवर्तन हुआ तो सामाजिक संबन्धों में भी परिवर्तन होगा। जब मानव समूह कृषि करते हैं, वहाँ एक नई संस्कृति, भाषा और समाज का निर्माण होता है। संस्कृतीकरण में गतिशीलता आती है, तो वह सामाजिक परिवर्तन है। इस परिवर्तन की दो विशेषताएँ हैं, एक तो परिवर्तन धीमी गति से आता है और दूसरी परिवर्तन जातियों की सोपानिक व्यवस्था में दिखाई देता है, विशाल सामाजिक व्यवस्था में नहीं। इस तरह के अन्तर्जात परिवर्तन हिन्दू परम्पराओं में आते हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक कारण से भी सामाजिक परिवर्तन हो जाता है।

१.१.५.६.२ सामाजिक आंदोलन के कारण

सामाजिक आंदोलन सामाजिक परिवर्तन का एक कारण है। ये सामाजिक व्यवस्था को कभी आंशिक या संपूर्ण रूप से परिवर्तित करता है। बाह्य परिस्थितियों के कारण समाज अपने आप परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे बाढ़, भूकम्प आदि। आंतरिक परिस्थितियों में समाज के सदस्य स्वयं परिवर्तन लाना चाहते हैं। वे संगठित होकर आंदोलन शुरू करते हैं, यह आंदोलन समाज की आंतरिक व्यवस्था से जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए दलित आंदोलन अपने अनुभवों से अर्जित आत्म पहचान से रूपायित होता है। जब समाज में दूसरों को अपने से अलग करके देखने से (ब्राहमण) पृथकता संबंधी परिक्लपनाओं को जगह मिलता है।

१ रामधारी सिंह दिनकर, *संस्कृति के चार अध्याय*, पृ. ६५२.

१.१.५.६.३ प्रकृति और जनसंख्या में परिवर्तन के कारण

प्रकृति के संचालन बिगडने से समाज में परिवर्तन आ जाता है। जैसे मौसम का परिवर्तन, आकस्मिक घटनाएँ जैसे भूकम्प, बाढ़ आदि से सामाजिक संबंध तितर-बितर हो जाते हैं। मनुष्य सामाजिक संबंधों का मुख्य आधार है। अतः जनसंख्या में वृद्धि और कमी का प्रभाव सामाजिक संबंधों पर पड़ता है। उदाहरण के लिए समाज की जनसंख्या की क्रमातीत वृद्धि से अनेक सामाजिक समस्याएँ जैसे भोजन, आवास, शिक्षा, दीक्षा आदि उठ खड़ी होती हैं और उनका सामाजिक संबंधों पर प्रभाव पड़ता है।

१.१.५.६.४ प्रौद्योगिक और औद्योगिक के कारण

आज मानव नयी वस्तुओं के खोज कार्य में हमेशा क्रियारत है। समाज के हर क्षेत्र में वह पदोन्नति चाहता है। यान्त्रिक क्रियाओं ने मानव संबंधों पर इतना प्रभाव डाला है कि उसके पास दूसरों से मिलने के लिए समय नहीं है। आधुनिक व्यक्ति के दृष्टिकोण बदलने से सामाजिक संगठन में भी परिवर्तन का आभास देखने को मिलते हैं। जब संसार में औद्योगिक क्रांति आती थी तब औद्योगिक पूँजीवाद ने बाज़ार को केन्द्र बनाया। ये राष्ट्रीय बाज़ार अंतर्राष्ट्रीय तक पहुँच गये। आज बाज़ारवाद भी समाज को परिवर्तित करते हैं। नये-नये यंत्रों के आविष्कार एवं विकास के कारण मनुष्य के आर्थिक स्तर में भी परिवर्तन आया है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के कारण भी सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से हो रहा है।

१.१.५.६.५ वैश्वीकरण के कारण

“वैश्वीकरण सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में परम्परात्मक, स्थानीय व राजकीय प्रतिबंधों के शिथिलीकरण के माध्यम से वैश्विक एकरूपीकरण की प्रक्रिया

है।”^१ अतः वैश्वीकरण बहुआयामी आर्थिक प्रक्रिया है। आज कोई भी समाज या देश इसके प्रभाव से अछूता नहीं। वैश्वीकरण समाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक होते हुए भी उसका केन्द्र ‘अर्थ’ है। अधिकाधिक राज्यों के बीच का आर्थिक संबन्ध आर्थिक अंतर्राष्ट्रीकरण की ओर ले चलता है। अतः हम कह सकते हैं कि वैश्वीकरण अर्थ एवं वाणिज्य को स्वतंत्र बाज़ार में छोड़ना चाहता है। ये धर्म, संस्कृति, परंपराओं आदि से व्यक्ति व समाज को मुक्त कराकर उन्हें विकास के बेहतर अवसर प्रदान करती है। मेलकाँम की वैश्वीकरण की परिभाषा इस प्रकार है- “वैश्वीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिस में सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था पर जो भौगोलिक दबाव होते हैं; पीछे हट जाते हैं, और लोग भी इस तथ्य से अवगत हो जाते हैं कि अब भूगोल की सीमाएँ बेमतलब हैं”^२।

आज वैश्वीकरण ने लोगों की सोच और जीवन पद्धति के मूल्यों के बीच लड़ाई शुरू की है। आर्थिक आधिपत्य के माध्यम से राजनैतिक आधिपत्य को कायम रखा है। फलस्वरूप गरीब समाज व देश को आर्थिक, सांस्कृतिक, तथा राजनैतिक रूप से अमीर देशों का गुलाम होना पड़ता है। इस तरह के शोषण में वैश्वीकरण विकसित राष्ट्रों का सुरक्षित हथियार है। अतः यह एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका माध्यम विकसित प्रौद्योगिक तकनीक है, साथ में इसका आर्थिक आधार उदारवाद, उपभोक्तवाद एवं बाज़ारवाद है। समाजशास्त्र के अध्ययन में सूपर बाज़ार का बड़ा महत्व है। आज स्थानीय और वैश्वीय लोग एक कड़ी में बाँध गये हैं। औद्योगिक क्रांति, सूचना तकनीकी, संचार साधनों में वृद्धि आदि सब प्रक्रियाएँ दुनिया भर के सामाजिक संबन्धों को गहरा और घनिष्ठ कर रही है, इस प्रक्रिया को समाजशास्त्रीय वैश्वीकरण कहते हैं। वैश्वीकरण दुनिया को जोड़ने वाला, अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सूत्र में बाँधने

१ रामगोपाल सिंह, *वैश्वीकरण मीडिया और समाज*, पृ. ६.

२ एस. एल. दोषी, *आधुनिकता उत्तर-आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. ३२२.

वाला नेटवर्क है। इससे आगे हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन को भी प्रभावित करता है। एक दूसरे को निकट लाने के साथ-साथ उनमें तनाव भी पैदा करते हैं। 'मेलकाँम वाटर्स' का बहुचर्चित ग्रन्थ है, 'ग्लोबेलाइजेशन' (१९९८)। इन्होंने पहली बार वैश्वीकरण को समाजशास्त्र में स्थापित किया।

उत्तर आधुनिक समाज को वैश्वीकरण ने पूँजीवादी विश्व समाज की ओर ले जा रहे हैं। पूँजीवादी विश्व का समाज पूर्ण रूप से एक प्रतियोगी समाज बन जाने की संभावना है। कुल मिलाकर वैश्वीकरण ने आर्थिक उदारीकरण का सूत्रपात किया है, पूँजीवादी विश्व व्यवस्था को स्थापित किया और अपनी प्रगति के लिए संस्थाओं के जाल को बनाया। उपभोग और प्रजातंत्रीकरण को विकसित किया। संस्कृति के क्षेत्र में जन संस्कृति को विकसित किया। वैश्वीकरण बाज़ार को उत्पादन से भर दिया है। इन सब में तकनीकी ज्ञान और पूँजी निवेश निर्णायक कारक है। जिन देशों के पास इनका अभाव है, वे संगठित या असंगठित रूप से इसका विरोध करता है। बेलेस्टेन और जेमेसन कहते हैं; "वैश्वीकरण पूँजीवाद का मेनीफेस्टो है"^१। हमें ऐसा अनुमान करना चाहिए कि बहुत जल्दी ही उत्तर-वैश्वीकरण की संभावनाएँ हैं। आगे हम साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रविधि पर विस्तार से विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे।

१.१.६ साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रविधि

जैसे हम ने पहले कहा कि साहित्यकार समाजशास्त्रीय अध्ययन कैसे करें। आज कल पूरे विश्व में समाजशास्त्रीय अध्ययन की अनेक प्रविधियाँ प्रचलित हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार उनके जीवनानुभवों में भी समय-समय पर परिवर्तन आते हैं। साहित्य का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। साहित्यकार साहित्य के ऐसे पक्षों की ओर भी ध्यान देने लगा है जो मानवीय संबन्धों और समाज की संरचना के

१ एस. एल. दोषी, *आधुनिकता उत्तर-आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. ३५२.

विश्लेषण से भी संबंधित है। साहित्य की इन्हीं सामाजिक स्रोतों से साहित्य के समाजशास्त्र का जन्म हुआ है। वैश्विक स्तर पर समाजशास्त्रीय अध्ययन को एक व्यवस्थित रूप देने की प्रक्रिया में अनेक विद्वानों का योगदान है। जैसे मैडम दि स्टैले, तेन, मार्क्स, एंगल्स, लुकाच, गोल्डमान आदि विद्वानों के विशेष महत्व है। अगस्त कॉम्टे (१७९८-१८५७) को समाजशास्त्र का जनक माना जाता है, जिन्होंने समाजशास्त्र से संबंधित कुछ नियम बनाकर उन्हें व्यवस्थित दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया। वे एक प्रगतिशील समाज की कल्पना करते थे। फलस्वरूप उनके समाजशास्त्र से संबंधित दो दृष्टियाँ सामने आती हैं जैसे- सामाजिक स्थितिशास्त्र (social statics), तथा सामाजिक गतिशास्त्र (social dynamics)। सामाजिक स्थितिशास्त्र में वे समाज के संगठन एवं स्थिर संबंधी नियमों की खोज करते हैं, वहीं सामाजिक गतिशास्त्र में समाज की उन्नति एवं प्रगति की बात करते हैं। दोनों ही नियमों के तहत कॉम्टे समाज को व्यवस्थित बनाकर उसका विकास एवं प्रगति चाहते हैं। वे समाजशास्त्र को सामाजिक नियोजन एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के विज्ञान के रूप में देखते हैं। कॉम्टे इस महान कार्य के संपादन हेतु वैज्ञानिक, कलाकार, कवि, चिकित्सक, गायक, नर्तक आदि विविध वर्गों की सेवाओं को महत्वपूर्ण एवं उपयोगी मानते हैं। इन्हीं के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कुछ अन्य विद्वानों ने भी समाजशास्त्र की ओर ध्यान दिया। परंतु कॉम्टे से पहले अठारहवीं सदी में ही फ्रांस के साहित्यालोचक मेडम दि स्टैले (१७६६-१८१७) थीं, जिनको प्रो. रेनेवेलेक ने प्रथम महिला आलोचक कहा है। फ्रांस में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिन्तन की परंपरा व्यवस्थित रूप में मेडम दि स्टैले की पुस्तक- 'Literature considered in its relation with Social institution' (सामाजिक संरचनाओं से साहित्य के संबंध पर विचार) से शुरु हुई। मेडम दि स्टैले ने समाज और साहित्य के संबंधों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि साहित्य पर धार्मिक एवं राजनीतिक धारणाओं का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'डी.ला. लिटरेचर' में वे हर्डर (१७४४-१८३०)

की तरह भूगोल, जलवायु एवं तदनुसार सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्थितियों के साथ साहित्य रचना का संबंध जोड़ती हैं। मैडम दि स्टैले के बाद सामाजिक स्थितियों की गहराई को उद्घाटित करने एवं उसे आत्मसात् कर साहित्य के समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित रूप देने का श्रेय १९ वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध के फ्रेंच विद्वान 'इप्पोलाईत तेन' (१८२८-१८९३) को है। वे साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं। वे साहित्य के मूल्यांकन हेतु प्रजाति, काल और पर्यावरण (Race, Moment and Melieu) का त्रिक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। साहित्य सर्जन में इन तीनों की भूमिका को उन्होंने महत्वपूर्ण माना है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख विचारकों में तेन के पश्चात् कारल मार्क्स (१८१८-१८८३) एवं फेडरिक एंगेल्स (१८२०-१८६५) ने कला को भौतिक एवं आर्थिक कारणों से संबंधित कर चिंतन को नई दिशा प्रदान की। मार्क्स से पूर्व एडमस्मिथ, फरग्युसन, बेलिंस्की, चर्नोवेस्की, द्रोबोल्जुवोव जैसे विचारकों ने अपने कला संबंधी विचारों में भौतिकवादी चिंतन को स्थान दिया।

समाजशास्त्र पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से विचार करते हुए एक नवीन रूप प्रदान करने का श्रेय जार्ज लुकाच एवं लूसिए गोल्डमान जैसे मार्क्सवादी चिन्तकों को दिया जाता है। लुकाच के अनुसार साहित्य का रूप तथा नियम यथार्थतः वस्तुपरक जीवन की मूल गतियों से निर्धारित होता है। उनकी दृष्टि में समस्त साहित्य वर्ग संघर्ष की दृष्टि से लिखा जाता है। साहित्य की समाजशास्त्रीय पद्धति को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने हेतु हंगेरियन विद्वान लूसिए गोल्डमान ने 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' की अवधारणा को प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता है कि, किसी भी कृति को अकेले कृतिकार के संदर्भ में देखने की अपेक्षा एक सामाजिक वर्ग की विश्वदृष्टि या समग्रता में देखना चाहिए जो कि कृतिकार के दृष्टिकोण एवं मानव संरचनाओं के निर्माण में सहायक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण को अपनाया और उसे पद्धति के रूप में विकसित किया।

समाजशास्त्रीय पद्धति के निरूपण हेतु इन सभी विचारधाराओं को 'एलनस्विंगुड' ने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम विचारधारा को वे प्रत्यक्षवादी विचारधारा की संज्ञा प्रदान करते हैं जो साहित्य को समाज का दर्पण मानकर उसे बाह्य कारकों यथा भौगोलिक, जलवायु, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारकों का परिणाम व प्रतिबिंब मानता है। मैडम दि स्टैले, एच.तेन की विचाराधारा में इसका प्रारंभिक रूप तथा मार्क्सवादी विचारधारा में इसका परिष्कृत रूप लक्षित होता है। इसके अंतर्गत अन्य विचारक भी हैं जैसे डी.बोनाल्ड, जेम्सराइट, वीसो, हर्डर, मार्क्स और एंगेल्स, प्लेखानोव, लेनिन, माओत्सेतुंग, मैक्सिम गोर्की, लूनार्चसर्की आदि।

द्वितीय विचारधारा साहित्य विश्लेषण को बाह्य कारकों की अपेक्षा कृति को अध्ययन बिन्दु मानकर उसकी आंतरिक संरचना एवं उसको निर्मित करने वाली विभिन्न इकाईयों की संरचना एवं प्रकार्यात्मक संबंध के अध्ययन पर बल देती है। उसमें कृति के माध्यम से समाज, साहित्य सृजन की प्रक्रिया के निर्धारक आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों का अध्ययन तथा उसके उत्पादन, उपभोग एवं विचरण की प्रक्रिया को बोधगम्य बनाया जाता है। ऐसे विचारकों में कॉडवेल, जार्ज लुकाच, लुसिए गोल्डमान, एच.डी. डंकन, एल. शूकिंग, एस.सी.ब्रोख्त, रेनेवेलोक, जिम्स, एच.बर्नेट, रावर्ट एस्कारपिट, रूचेक, एनलस्विंगवुड, डायना लारन्स आदि प्रमुख हैं।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में एक नयी देन बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान 'रेमण्ड विलियम्स' (१९२१-१९८८) की है जिन्होंने आधार-अधिरचना (Base-Superstrucutre) सिद्धांत को मार्क्सवादी सांस्कृतिक विश्लेषण की कुंजी के रूप में रेखांकित किया है। उन्होंने साहित्य और समाज के संबंध को आधार और अधिरचना के रूप में विश्लेषित किया। क्योंकि जिस प्रकार समाज से साहित्य प्रभावित होता है उसी प्रकार साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है। यद्यपि भारतीय संदर्भ में इस विषय पर बहुत अधिक काम नहीं हुआ है तथापि कुछ विद्वानों द्वारा किया गया प्रयास

विचारणीय है। सबसे प्रथम डॉ.डी.पी.मुखर्जी एवं राधाकमल मुखर्जी के नाम विशेष उल्लेखनीय है। डी.पी.मुखर्जी ने अपने पुस्तक 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र' (Sociology of Indian Literature) में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि संचार का माध्यम होने के कारण साहित्य से संपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया का बोध संभव हो सकता है। राधाकमल मुखर्जी कला के समाजशास्त्र और कला के समाजशास्त्रीय उपागम तथा कला के सामाजिक कार्यों का विश्लेषण अपना ग्रंथ 'द सोशल फंक्शन ऑफ आर्ट' में करते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार "किसी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तः स्वरूप क्या है? किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आंतरिक तत्व को रूपायित किया है? तीसरे, उसका प्रभाव क्या है? किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?"^१ इन सभी विद्वानों के मतों के विश्लेषण के बाद यह तथ्य सामने आता है कि संपूर्ण विचार विमर्श के केन्द्र में मुख्यतः तीन पक्ष हैं, जो संपूर्ण साहित्य प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं। वे हैं - लेखक, कृति और पाठक। साहित्य की प्रक्रिया को समग्रता से समझने के लिए इन तीनों के आपसी संबंधों का बोध आवश्यक है। अतः साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिए उसके भीतर समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या में सक्रिय मुख्य तीन दृष्टियाँ हैं- साहित्य में समाज की खोज, समाज में साहित्यकार और साहित्य, साहित्य और पाठक के संबंध का विश्लेषण। इन मुख्य तीन दृष्टियों को लेकर भिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन को अलग-अलग नाम दिये। सभी ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप

१ नेमीचन्द्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली, पृ. २९३

से साहित्य और समाज के संबंधों को इन्हीं तीनों तत्वों के आधार पर विश्लेषित कर पद्धति के रूप में एक नया नाम दिया है।

१.१.७. समाजशास्त्र और सामाजिक समस्याओं के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ

समाजशास्त्रीय अध्ययन में निम्नांकित पद्धति से समाज का अध्ययन किया जाता है।

१.१.७.१ ऐतिहासिक पद्धति

साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भ को समझने का अर्थ है समाज की इतिहास-प्रक्रिया और संस्कृति के दूसरे रूपों से परिवर्तनशील संबंध को समझना। इसके लिए परंपरा की धारणा का विशेष महत्व है। साहित्य की ऐतिहासिक दृष्टि के विकास का एक माध्यम समाज का इतिहास लेखन भी है। जैसे अतीत की महत्वपूर्ण घटनाओं, सामाजिक संबंधों, समाज एवं संस्कृति के सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन में जिस पद्धति का प्रयोग होता है उसे ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं। काम्ते, स्पेन्सर, हॉब्स, कार्ल मार्क्स एवं उनके अनुयायियों की विचारधारा में इस पद्धति को महत्व मिला है। साहित्य का समाजशास्त्री अतीत के आधार पर वर्तमान को समझने तथा भविष्य की दिशा-निर्धारण हेतु महत्वपूर्ण तथ्यों की उपलब्धि कर सत्य की खोज में कार्यरत रह सकता है। मैक्सवेबर ने पूंजीवाद की उत्पत्ति और विकास, आधुनिक नौकरशाही का विकास आदि में ऐतिहासिक पद्धति का सार्थक प्रयोग किया है। संक्षेप में इस पद्धति का प्रयोग साहित्य का समाजशास्त्री निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कर सकता है। साहित्य के क्रमिक विकास को ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में ग्रहण कर साहित्य में वर्णित उसकी उत्पत्ति एवं विकास तथा वर्तमान स्वरूप के निरूपण हेतु तथ्यात्मक अध्ययन, साहित्य संस्था की उत्पत्ति एवं विकास तथा उसके ऐतिहासिक परिवर्तनों का विश्लेषण, साहित्य संरचना की निर्णायक इकाइयों, उनके पारस्परिक संबंधों, तथा उनके स्वरूपों व संबंधों में होनेवाले परिवर्तनों एवं साहित्य सृजन

में उनकी स्थिति एवं भूमिका का क्रमिक अध्ययन के लिए भी इस पद्धति का प्रयोग कर सकता है।

१.१.७.२ तुलनात्मक पद्धति

समाजशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति के रूप में तुलनात्मक पद्धति को काफी महत्व मिला है। सबसे पहले 'दुर्खीम' ने 'दि रूल्स ऑफ सोशियोलजिकल मेथड' में स्पष्ट रूप से इस पद्धति के महत्व को स्थापित किया। तुलनात्मक विधि के प्रारंभिक प्रयोगों का अधिकतर आकर्षक, खासतौर पर सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा, गैर-पश्चिमी समाजों के अध्ययन को समर्पित था। उन्नीसवीं शताब्दी में तुलनात्मक विधि का मुख्य आकर्षण इस विश्वास में था कि इसका प्रयोग मानव समाज और संस्कृति के बारे में वैज्ञानिक नियमों को खोजने के लिए किया जा सकता है। ई.ए. फ्रीमैन का कहना था कि - "अध्ययन की तुलनात्मक पद्धति की स्थापना हमारे युग की सर्वश्रेष्ठ बैद्धिक उपलब्धि है।"^१

मानवशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त इस पद्धति का प्रयोग काम्ते, स्पेन्सर, दुर्खीम, मैक्सवेबर, पारसनस आदि के अध्ययनों में व्यापक रूप से हुआ है। प्रमुख संस्थाओं के पारस्परिक संबंध, परिवर्तनों एवं उनके प्रभावों के व्यवस्थित अध्ययन में पद्धति उपयोगी होती है। हाबहाउस, व्हीलर तथा जिन्सबर्ग ने आदिम समाजों की प्रमुख संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। दुर्खीम की 'आत्महत्या' तथा वेबर का 'धर्म संबन्धी अध्ययन' तुलनात्मक अध्ययन का ही परिणाम है। इस पद्धति की सार्थकता इस प्रकार है- मौखिक साहित्य में स्थापित विचारों तथा लिखित साहित्य में स्थापित विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, ताकि साहित्यिक निरन्तरताओं की खोज संभव हो सके। समकालीन विविध साहित्य विधाओं के स्रोत, पारस्परिक संबंध, लोकप्रियता एवं प्रभाव के कारकों का

१ टी. बी. बॉटमोर, (अनु) गोपाल प्रधान, *समाजशास्त्र समस्याओं और साहित्य का अध्ययन*, पृ. ३.

अध्ययन, विभिन्न भाषायी, क्षेत्रीय एवं युगीन साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सामान्य प्रवृत्तियों की खोज, लेखक, प्रकाशक, पाठक, आलोचक की सामाजिक स्थिति, युगीन मान्यताएं एवं उतार-चढ़ाव, पारस्परिक सहयोग एवं संघर्ष का अध्ययन, साहित्यिक मानदंडों व अन्तर्वस्तु के आधार पर विश्वसाहित्य के आधारों की खोज आदि के लिए भी यह पद्धति उपयुक्त है।

१.१.७.३ संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक पद्धति

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति की दो आधारभूत अवधारणाएँ हैं; संरचना एवं प्रकार्य। जो समाजशास्त्रीय अध्ययन को किसी भी सामाजिक इकाई की पारस्परिक अन्तः संबंधों, उसकी स्थिति तथा भूमिका द्वारा समाज को दिये जाने वाले योगदान तथा उनके अंतः संबंधित प्रतिमानों की क्रमबद्धता के अध्ययन पर केन्द्रित करती है। संरचना की परिभाषा का मसला सबसे पहले एस. एफ. नडेल ने अपनी पुस्तक 'दि थियोरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर' में उठाया था। संरचना का प्रयोग, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, सामाजिक सिद्धान्त, भाषा-विज्ञान, साहित्यिक आलोचना, संस्कृति विश्लेषण, मनोविश्लेषण, इतिहास, ज्ञान का दर्शन, मानवशास्त्र आदि में प्रयुक्त होने के कारण इसकी परिभाषा देना कठिन है। नडेल के अनुसार "सामाजिक संरचना को हम समाज में व्यक्तियों की भूमिकाओं तथा परिस्थिति से उत्पन्न अन्तर संबंधों के नेटवर्क के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।"^१ 'प्रकार्य' किसी विशिष्ट सामाजिक प्रचलन का वह योगदान है जो कि वह सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशीलता के रूप में सामाजिक जीवन को प्रदान करता है। मर्टन के अनुसार "प्रकार्य वे निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी समाज के अनुकूलन या सामंजस्य में सहायक होते हैं।"^२ समाजशास्त्र में संरचना के साथ प्रकार्य को जोड़ते हैं। प्रकार्यवाद एक तटस्थ विचार, सिद्धान्त और पद्धति है, जिसका प्रयोग सामाजिक

१ हरिनारायण ठाकूर, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र*, पृ. ३६३ (से उद्धृत)

२ वि. टी. गुप्ता, *साहित्य का समाजशास्त्र, अवधारण, सिद्धान्त एवं पद्धति*, पृ. ७४.

संरचनाओं और उनकी स्थिति व भूमिका, परिणाम व कारण को समझने में सहायक होता है। साहित्य संस्था की संरचना एवं प्रकार्य के विश्लेषण हेतु इस पद्धति की ओर साहित्य के समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ है। साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण हेतु एच.डी. डंकन ने सर्वप्रथम साहित्य रूपी संस्था की संरचनात्मक इकाइयों एवं उनकी अंतः क्रियाओं के अध्ययन का आधार प्रस्तुत किया। लुसिए गोल्डमान भी अपने 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' की अवधारणा को कृति की आन्तरिक संरचनाओं के विश्लेषण पर ही केन्द्रित करते हैं। एम.सी. अलब्रेख्त अपने 'आर्ट एज एन इंस्टीट्यूशन' निबंध में साहित्य की संरचना एवं प्रकार्य विश्लेषण का सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत कर संरचनात्मक-प्रकार्यवाद अध्ययन की ओर प्रेरित करते हैं। "सैद्धान्तिक परिवर्तन की चुनौती ने आधुनिक सिद्धान्त में प्रकार्यवाद को नव-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का विकास किया। ये प्रकार्यवादी परम्परा का एक नया समाजशास्त्रीय पुनर्निर्माण है। आज ये निर्माण के स्तर पर हैं। इस सिद्धान्त के क्षेत्र में अलेक्जेंडर, मंच, तथा लूहमान के अतिरिक्त पॉल-सोलोमी, डिन, गेरस्टेन, मार्क गुल्ड, नैल स्मेलसर आदि ने भी उल्लेखनीय काम किया है"^१। उपर्युक्त समाजशास्त्रीय पद्धतियाँ साहित्य को समग्र रूप में विश्लेषित करने में सक्षम प्रतीत होती हैं। साहित्य अध्येता इन पद्धतियों की आधारभूत मान्यताओं के आधार पर वस्तुनिष्ठ निष्कर्षों की प्राप्ति तथा साहित्य सृजन की प्रक्रिया को समझने में सफल हो सकता है।

वैसे अगर कहा जाय तो साहित्य का समाजशास्त्र स्वयं अपने आप में एक पद्धति है। एक सार्वभौम पद्धति के रूप में यह अनुसंधान को प्रेरित करती है कि वह उन परंपराओं, मूल्यों और आदर्शों को खोजने का प्रयास करते हैं जिसमें किसी कृति का सृजन हुआ है। निष्कर्ष यह है कि साहित्य में लेखक, पाठक, आलोचक, व प्रकाशक एवं

१ एस. एल.दोषी, *आधुनिकता उत्तरआधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. ३१२.

उनकी अन्तः क्रियाएँ विशेष महत्व रखती है जिनका समाजशास्त्रीय पद्धति द्वारा विवेचन कृति के मूल्यांकन में सहायक होता है।

१.१.८ साहित्य के समाजशास्त्र की धाराएँ

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण के आधार पर अपनी पद्धतियों का निर्माण किया जिनके विवेचन में इन तीनों लेखक, कृति और पाठक में से कोई एक केन्द्र में रहता है। परंतु आगे चलकर इन भिन्न धाराओं में से कुछ धाराओं को साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में मान्यता मिली, जिन्हें अध्ययन हेतु परवर्ती समाजशास्त्रियों ने अपनाया। इस प्रकार साहित्य के समाजशास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न निकायों की स्थापना हुई।

डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि - “आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की दो धाराएँ हैं। एक धारा में, साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज होती है। उसे हम मीमांसावादी धारा कह सकते हैं। दूसरी में, साहित्य का सामाजिक स्थिति का विवेचन होता है। वह अनुभाववादी धारा है। मीमांसावादी धारा के अन्तर्गत मार्क्सवादी, आलोचनात्मक समाजशास्त्री और संरचनावादी दृष्टियाँ सक्रिय हैं तो अनुभववादी पद्धति में पुरानी विधेयवादी दृष्टि के साथ-साथ संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टियाँ सक्रिय दिखाई देती हैं।”^१

१.१.८.१ मीमांसावादी धारा

साहित्य के समाजशास्त्र की मीमांसावादी धारा के अंतर्गत कृति विवेचन के केन्द्र में होती है। मीमांसावादी साहित्यिक कृति के विशिष्ट स्वरूप को महत्व देते हैं, इसलिए उनके सामने कृतियों के चुनाव की समस्या होती है। वे गंभीर और सतही साहित्य में

१ मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ.३२.

फर्क करते हैं। मीमांसावादी समाजशास्त्री के सामने कृति में समाज की अभिव्यक्ति की विवेचना की समस्या होती है। कृति में समाज सामाजिक चेतना के रूप में तथा यथार्थ चित्रण के रूप में व्यक्त होता है। कुछ समाजशास्त्री यथार्थ-चित्रण पर बल देते हैं कुछ सामाजिक चेतना के विश्लेषण पर। सामाजिक चेतना विचारधारा या विश्वदृष्टि के रूप में व्यक्त होती है। यहाँ सवाल उठता है कि विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति किस रूप में और किस स्तर पर होती है। गोल्डमान किसी साहित्यिक कृति की संरचना में विश्वदृष्टि की खोज करते हैं। मीमांसावादी समाजशास्त्र के अन्तर्गत साहित्यिक कृतियों के पाठकीय अभिग्रहण और पाठकीय प्रतिक्रियाओं का भी विवेचन होता है। लियो लावेंथल ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसके साथ मीमांसावादी प्रकृति, समाज और चेतना के विकासशील संबंध की व्याख्या के लिए सैद्धान्तिक ढाँचे का निर्माण आवश्यक मानते हैं।

१.१.८.२ अनुभववादी धारा

मीमांसावादियों के विपरीत साहित्य के प्रयत्न को आवश्यक मानते हैं। वे प्रतीति और अनुभव से प्राप्त तथ्यों को महत्व देते हैं। अनुभववादी इंद्रियबोध, प्रतीति और अनुभव पर जोर देते हैं, जिससे व्याख्यात्मक समझदारी की उपेक्षा होती है। ऐसी स्थिति में यथार्थ का अधूरा बोध होता है। इस संबंध में मार्क्स ने लिखा है कि- “अगर वस्तुओं की प्रतीति और यथार्थ में हमेशा तात्कालिक समरूपता होती तो विज्ञान अनावश्यक होता।”^१ अनुभववादी दृष्टिकोण समाज में मौजूद पीड़ा, गुलामी, मूल्यों के परस्पर विरोध, विचारधाराओं की टकराहट और वर्गों के संघर्ष में तटस्थता की वकालत करता है। उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आलोक में निम्नलिखित तीन बिन्दुओं पर हम विचार करेंगे- विधेयवाद, आलोचनात्मक समाजशास्त्र, संरचनावाद।

१.१.९ विधेयवाद

१ मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ. ३३.

१८ वीं शती के प्रथम चरण में साहित्य, दर्शन, कला और अन्य क्षेत्रों में जो आलोचना-दृष्टि अपनायी गयी और जो आलोचना-सिद्धांत रूपायित किये गए, वे सरासर प्राकृतिक विज्ञानों के कारण-कार्य सिद्धांत के अनुसार निर्मित थे। एक नयी आलोचना दृष्टि थी 'विधेयवाद' (Positivism)। साहित्य के समाजशास्त्र का व्यवस्थित रूपायन फ्रेंच समीक्षक इपोलाइत तेन ने उन्नीसवीं शती में प्रथमार्द्ध में किया। तेन से पूर्व जोहान गाटफ्रेड हर्डर (सन् १७४४-१८०३) और मेडम दि स्टैले (सन् १७६६-१८१७) ने इस क्षेत्र में कार्य किया था। साहित्य के समाजशास्त्रीय आधार के निर्माण में, प्रथम महिला आलोचक है मेडम दि स्टैले उनकी पुस्तक है 'डि.ला.लिटरेचर'। विधेयवाद को प्रत्ययवाद भी कहते हैं अर्थात् जिसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण व साक्ष्य की जरूरत हो, जैसे कि प्राकृतिक विज्ञान। अर्थात् सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में किसी मुद्दे पर बातचीत करते समय प्रकृति विज्ञानों के सूत्रों का उपयोग किया जाना विधेयवादी पद्धति है। इपोलाइत तेन ने साहित्य के समाजशास्त्र का व्यवस्थित स्वरूप-निर्माण किया। अपने साहित्यिक इतिहास 'स्टडी ऑफ इंगलिश लिटरेचर' में साहित्य को सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों से जोड़ने के लिए प्रजाति (रेस), परिवेश (मिल्यू) और युग (मोमण्ट) का त्रिक-सिद्धांत दिया। वे 'प्रजाति' के अन्तर्गत व्यक्ति की सहज तथा वंशानुगत, मानसिक बनावट और शारीरिक संरचना आदि की चर्चा करते हैं। उन्होंने आर्यों का उदाहरण देते हुए लिखा है कि -"एक प्रजाति यद्यपि देश-काल की दृष्टि से दूर-दूर तक फैल जाती है, फिर भी उसमें कुछ समान विशेषताएँ मिलती हैं। फांतेन पर अपने निबंध में उन्होंने लिखा है कि किसी प्रजाति की चरित्रगत विशेषताएँ जलवायु, मिट्टी और इतिहास की महान घटनाओं की उपज होती है।.... १७ वीं सदी के फ्रांस में फांतेन, पुनर्जागरण कालीन इंग्लैंड में शेक्सपीयर और हमारे समय के जर्मनी में गेटे इसी प्रक्रिया की देन हैं।"^१ परिवेश से तेन का आशय मुख्यतः प्राकृतिक परिवेश से है। लेकिन उसके अन्तर्गत

१ मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. १२४.

वे सामाजिक परिवेश को भी शामिल करते हैं। उन्होंने लिखा है कि - “दुनिया में मनुष्य अकेला नहीं होता, उसके चारों ओर प्रकृति होती है, समाज होता है। उसकी आदिम प्रवृत्तियाँ तथा प्रजातिगत विशेषताएँ भौतिक-सामाजिक परिस्थितियों, घटनाओं आदि से प्रभावित होती हैं, कभी पुष्ट होती हैं कभी बदलती हैं।”^१ इस प्रकार वे मानव स्वभाव और प्रकृति परिवेश के बीच कार्य-कारण संबंध बिठाने की कोशिश करते हैं और इसके आधार पर साहित्य की विशेषताओं की व्याख्या करते हैं। उदाहरणस्वरूप यूनान तथा रोम के विशिष्ट प्राकृतिक परिवेश से वहाँ के निवासियों का स्वभाव बना है और उसकी अभिव्यक्ति उनकी संस्कृति, कला तथा साहित्य में हुई है। तेन के अनुसार एक युग में कुछ प्रधान विचार होते हैं। उनका एक बौद्धिक सांचा होता है जो पूरे समाज के चिंतन को प्रभावित करता है। “युग के प्रधान विचार का प्रसार जीवन के सभी क्षेत्रों में होता है, व्यवहार में, चिंतन में। एक लंबे समय के बाद ऐसे विचार का धीरे-धीरे हास होता है और कोई नया विचार विकसित होकर प्रधान विचार बन जाता है। यह दूसरा विचार पहले से जुड़ा होता है। साथ ही वह राष्ट्रीय प्रतिभा और समकालीन परिवेश से जुड़कर नये प्रकार के चिंतन और सृजन को प्रेरणा देता है।”^२ उदाहरण के लिए - मध्यकालीन यूरोप में वीर और पुजारी तथा आधुनिक काल में दरबारी और वाकपटु। इस प्रकार भौगोलिक कारणों के साथ मानवीय स्वभाव और रचनात्मकता का यह कार्य-कारण-संबंध तेन के ही नहीं समूचे विधेयवादी दृष्टिकोण की सीमा को स्पष्ट करता है। तेन ने श्रेष्ठ रचनाओं को उदाहरण रूप में चुनकर उनका विश्लेषण किया, आगे चलकर इसी का पालन लुकाच और गोल्डमान ने किया।

१.१.१० आलोचनात्मक समाजशास्त्र

१ मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ. ९२६

२ वही, पृ. १२४.

साहित्य के समाजशास्त्र के विकास में आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों का महत्वपूर्ण योगदान है। फ्रैंकफुर्ट समुदाय के समाजशास्त्रीय चिंतन को ही आलोचनात्मक समाजशास्त्र कहा जाता है। जर्मनी के फ्रैंकफुर्ट विश्वविद्यालय में १९२३ में एक सामाजिक शोध संस्थान की स्थापना हुई थी, उसी से जुड़े हुए विचारकों के समाजशास्त्रीय चिंतन से आलोचनात्मक समाजशास्त्र का विकास हुआ।

पूँजीवादी समाजव्यवस्था में मनुष्य की दशा और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों पर विचार ही आलोचनात्मक समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य था। इसके लिए उसमें विचारधारा और उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का गंभीर विश्लेषण हुआ। आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों की मुख्य देन है संस्कृति के समाजशास्त्र का विकास। यह काम मुख्य रूप से अडोर्ने, हवर्ट मार्कुस और लियोलावेंथल ने किया। परंतु इस समुदाय में केवल लावेंथल ने ही सचेत और व्यवस्थित रूप में साहित्य के समाजशास्त्र का विकास किया। उन्होंने निरंतर साहित्य के समाजशास्त्र की सैद्धांतिक समस्याओं को सुलझाने और व्यावहारिक विवेचन में समाजशास्त्रीय दृष्टि को विकसित करने का प्रयास किया। लावेंथल के लेखन का लक्ष्य है साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण। लेकिन वे सामाजिकता की खोज साहित्य के विशिष्ट स्वरूप की पहचान के साथ करते हैं। उन्होंने लिखा है कि - “समाज से साहित्य के संबंध की खोज के लिए सामूहिक चेतना और व्यक्ति चेतना के बीच संबंधों की समझ जरूरी है। ऐसी समझ मनोविज्ञान से मिलती है, इसलिए मनोविज्ञान साहित्य का सहायक हैं।”^१ आलोचनात्मक समाजशास्त्र के अनुसार - “विचारधारा अनिवार्यतः छद्म सामाजिक चेतना या सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य भ्रम है।”^२ लावेंथल विचारधारा का यही अर्थ मानते हैं और इसे अपने साहित्य विश्लेषण में लागू करते हैं। वे लिखते हैं कि - “विचारधारा सामाजिक यथार्थ

१ मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ. १३५.

२ वहीं, पृ. १३६

को रहस्य के आवरण में ढकती है, उसको रूपांतरित करती है, जिससे पूंजीवादी समाज के अन्तर्विरोधों को समझना कठिन हो जाता है।...विचारधारा की मीमांसा का लक्ष्य है सामाजिक अंतर्विरोधों और वास्तविकताओं पर पड़े रहस्य के परदों को हटाकर उनके यथार्थ रूप को सामने लाना और रचना में व्यक्त सामाजिक चेतना के वास्तविक रूप की पहचान कराना।”^१ साहित्य के समाजशास्त्र के अध्ययन में ‘रूप’ और ‘अंतर्वस्तु’ का संबंध महत्वपूर्ण है। लावेंथल अंतर्वस्तु का ही अधिक विश्लेषण करते हैं, लेकिन रूप की भी उपेक्षा नहीं करते। साहित्य के पाठकीय अभिग्रहण के संबंध में अन्य समाजशास्त्रियों की तुलना में उनका अध्ययन अधिक गंभीर और व्यवस्थित है। इसके लिए उन्होंने दास्तोवस्की और हमसून की रचनाओं के पाठकों पर विचारधारात्मक प्रभाव का विस्तार से विश्लेषण किया है। इस पद्धति से रूढ़िवादी और प्रगतिशील रचनाओं का अंतर स्पष्ट किया जा सकता है। लावेंथल लोकप्रिय साहित्य को आधुनिक समाज में मनुष्य की चेतना और सामाजिक मूल्यव्यवस्था को जानने का तक महत्वपूर्ण स्रोत समझते हैं और उसके अंतर्गत सस्ते जीवनियाँ, समाचार-पत्र, पारिवारिक पत्रिकाएं और पुस्तक-समीक्षाओं का अध्ययन करते हैं। उनके यहाँ लोकप्रिय संस्कृति मुख्य रूप से लोकप्रिय साहित्य तक सीमित है। उनके अनुसार - “लोकप्रिय संस्कृति की वस्तुपरक स्थिति का तथ्यात्मक ज्ञान जरूरी है जो अनुभववादी पद्धति से प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन उसके मूल्यांकन के लिए नैतिक और सौन्दर्य-बोधीय दृष्टि भी आवश्यक है।”^२ इसके साथ वे ऐतिहासिक संदर्भ को भी आवश्यक मानते हैं।

कोई भी विचारधारा अपने आप में पूर्ण नहीं होती। सभी में कुछ कमियाँ अवश्य रह जाती हैं। इसी संदर्भ में एलेनस्विंगवुड ने लिखा है कि - “फ्रैंकफुर्ट समुदाय के समाजशास्त्रियों ने भीड़ को एक सर्वव्यापी मिथक बना दिया, और उसके आधार पर

१ नमैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ. १३६-१३७.

२ वही, पृ. १४२.

समाज, संस्कृति, कला और मनुष्य की दिशा की व्याख्या कर दी।”^१ तथापि-“तेन के बाद और गोल्डमान से पहले के काल में लावेंथल सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्य के समाजशास्त्री है। उनके चिंतन की एक बड़ी विशेषता है कि उसमें साहित्य के इतिहास और समाजशास्त्र की वह एक एकता है जो तेन के यहाँ भी मिलती। “पूँजीवादी उपभोक्ता समाज में संस्कृति और कला की दुर्गति को पहचानने में आज भी उनकी दृष्टि दिशा दे सकती है।”^२

१.१.११ संरचनावाद

संरचनावाद का अध्ययन हम दो स्तरों पर कर सकते हैं। एक, लुसिए गोल्डमान का ‘उत्पत्तिमूलक संरचनावाद’ और दूसरा है रेमण्ड विलियम्स का ‘अनुभूति की संरचनाएँ’। बीसवीं सदी के समाजशास्त्रियों में लुसिए गोल्डमान (१९१३-७१) का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। साहित्य के समाजशास्त्री के रूप में उनको विशेष ख्याति फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित मुख्यतः दो कृतियों से मिली : ‘अव्यक्त ईश्वर’ (१९५६) और ‘उपन्यास के समाजशास्त्र की एक दिशा’ (१९६४)। गोल्डमान की मान्यताओं के तीन स्रोत हैं - जार्ज लुकाच का आरंभिक चिंतन, पिजे का मनोविज्ञान और संरचनावाद। लुकाच के चिंतन से समग्रता, विश्वदृष्टि, रूप, पराव्यैक्तिक चेतना, संभावित चेतना और वस्तुपरक संभावना आदि धारणाएँ ली। पिजे के चिंतन से उन्होंने संरचना, प्रकार्य, संरचनाओं के विकास और हास की प्रक्रिया, चेतना और वस्तु के बीच संबंध तथा संतुलन आदि धारणाओं को अपनाया। उनकी समानधर्मिता की धारणाओं पर संरचनावाद का प्रभाव है। इन सब विशेषताओं को समेटते हुए उनकी पद्धति ‘उत्पत्तिमूलक संरचनावाद’ कहलायी। उनकी पद्धति जितनी नयी है उतनी जटिल भी है। गोल्डमान साहित्य के समाजशास्त्र के इतिहास में साहित्य और समाज के संबंध की खोज में कृति में व्यक्त चेतना के सामाजिक

१ वही पृ. १४३

२ मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. १४४

उद्गम की खोज करते हैं। इसके लिए वे कृति की विश्वदृष्टि और वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं के बीच समानधर्मिता को ढूँढते हैं। जिनमें उनकी 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' पद्धति उपयोगी सिद्ध होती है। विश्वदृष्टि की धारणा गोल्डमान के साहित्य के समाजशास्त्र की बुनियाद है। गोल्डमान के अनुसार - "किसी वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं से कृति के भीतर रचित संसार की संरचनाओं की समानधर्मिता होती है। समाजशास्त्री उसी समानधर्मिता की खोज करता है।"^१ वे यह भी मानते हैं कि परस्पर भिन्न अन्तर्वस्तु वाली रचनाओं में भी चेतना की संरचना के स्तर पर समानधर्मिता हो सकती है। रेमण्ड विलियम्स के लेखन में समाज से संस्कृति के जीवंत और सर्जनात्मक संबंध की व्याख्या में मदद करने वाली केन्द्रीय धारणा है 'अनुभूति की संरचना।' १९५४ के अपने एक लेख 'प्रिफेस टु फिल्म एण्ड ड्रामेटिक ट्रेडिंशंस' में पहली बार उन्होंने इस धारणा को रखा था। उन्होंने लिखा था - "हम एक काल के अध्ययन में उस काल के भौतिक जीवन, सामाजिक संगठन और एक सीमा तक प्रधान विचारों को भी कमोबेश सही ढंग से पुनर्निर्मित कर सकते हैं। इन तत्वों से निर्मित समग्रता के किसी एक हिस्सा किसी कलाकृति को जोड़कर देखना उपयोगी हो सकता है। लेकिन अनुभव यही बताता है कि विश्लेषण के दौरान इस समग्रता के सभी तत्वों से कला का संबंध खोज लेने पर भी उसमें ऐसा कुछ बच जाता है जिसका बाहर की किसी चीज से संबंध जोड़ पाना मुश्किल होता है। उसी को मैं एक काल की अनुभूति की संरचना कहता हूँ जिसे किसी कलाकृति को समग्रता में अनुभव करके जी जाना जा सकता है।"^२ यहाँ अनुभूति की संरचना के सहारे वे काल विशेष की जानी-पहचानी विचारधारा से वास्तविक जीवन के अनुभवों में उस विचारधारा की परिणतियों को अलग करना चाहते हैं। रेमण्ड विलियम्स अनुभूति की संरचना के सहारे रचना के वैयक्तिक जीवंत और आत्मपरक पक्षों की ओर संकेत

१ मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ. १५०.

२ वही, पृ. १७९.

करता है। यहाँ यह प्रसंग महत्वपूर्ण है कि किसी रचना में अनुभव और अनुभूति के स्तर पर ही वैयक्तिकता अधिक प्रकट होती है, विचार के स्तर पर नहीं। इसलिए वे विचार से अधिक अनुभूति की बात करते हैं। मार्क्सवादी आलोचना में रचना के आत्मपरक और वैयक्तिक पक्षों की उपेक्षा की प्रवृत्ति की भी उन्होंने आलोचना की है। उन्होंने लिखा है कि-“जब विश्वदृष्टि, विचारधारा अथवा वर्ग दृष्टि की बात की जाती है तब रचना के जीवंत अनुभव पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। कहीं-कहीं रचना में सचेत विचारधारा और नये अनुभवों के बीच तनाव भी मिला है। अनुभूति की संरचना के सहारे इस तनाव की व्याख्या की जा सकती है।”^१ इस तरह साहित्य के समाजशास्त्र की धाराओं को सामने रखते हुए साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है। आगे हम उत्तर-आधुनिकता पर विस्तार से विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे।

१.१.१२ उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद

उत्तर आधुनिकता का प्रवेश यूरोप-अमेरिका में हुआ था। इस शब्द का प्रयोग पहली बार अरनाल्ड टोयन्बी ने किया था। १९७९ में ल्योतार ने अपनी पुस्तक ‘दि पोस्ट मोडर्न कन्डीशन’ में सबसे पहली बार इस अवधारण को सामने रखा। ल्योतार, फूको, दरिदा, बोड्रिलार्ड और जेमेसन मुख्य उत्तर आधुनिकतावादी विचारक हैं। महिलाओं में नेन्सी फ्रेसर, और लिंडा निकोलसन का नाम मशहूर है। उत्तरआधुनिकता वाद आधुनिकता के भीतर से फूट-फूट पड़ी एक अवस्था है। उत्तर आधुनिकतावाद इस तथ्य पर ज़ोर देता है कि एक समूह दूसरे समूहों से अपनी-अपनी संस्कृति-सामाजिक संरचनाओं में भिन्न होता है। ये केन्द्रीय वर्चस्ववाद के बदले स्थानीयता तथा उसकी भिन्नताओं पर बल देता है। उत्तर आधुनिकतावाद किसी शास्वत मूल्यांकन के प्रतिमान को स्वीकार नहीं करता। ये अभिजात्यवादी साजिश को तोड़ना चाहता है। इसलिए वह

१ मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. ९७१.

इस उपेक्षित दमित साहित्य का एक सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, काव्यशास्त्र निर्मित करना चाहता है। उत्तर आधुनिकतावाद में साहित्यिक-चिन्तन की कई नई वैचारिक पद्धतियाँ, प्रविधियाँ, शैलियाँ विकसित की हैं इन वैचारिक पद्धतियों में सांस्कृतिक अध्ययन क्षेत्र, नव इतिहासवाद, नव मिथकवाद, सबालर्न स्टडी (अधीनस्थों का अध्ययन), नारीवाद, अश्वेत पीड़ा का अध्ययन, दलित-दमित साहित्य का अध्ययन आदि को जगह मिली है। उत्तरआधुनिकता का कोई एक परिभाषा नहीं दे सकता। यह एक आन्दोलन है, जिसे दर्शनशास्त्र, कला, वास्तुकला, साहित्य, कविता, नृत्य, नाटक, फिल्म आदि में देखा जा सकता है। उत्तर आधुनिकता के अर्थ को जिम मेक्गुगन इस प्रकार व्यक्त करता है “उत्तर आधुनिकता एक सांस्कृतिक और ज्ञान-मीमांसा की दशा है जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक सामाजिक संस्थाएँ दब जाती हैं। और भूमण्डलीय समाज की दिशा की ओर ले जाने वाले एक युगान्तर आता है।”^१ रिचार्ड गोट का राय है “उत्तरआधुनिकता आधुनिकता से मुक्ति दिलाने वाला एक स्वरूप है। यह एक विखण्डित आन्दोलन है जिसमें सैकड़ों फूल खिल सकते हैं। उत्तरआधुनिक में बहु संस्कृतियों का निवास हो सकता है।”^२ इन अर्थों से यह व्यक्त होता है कि उत्तरवादियों के अनुसार सभी समूहों को बोलने का अधिकार है। ये सभी महा आख्यानों को अस्वीकार करते हैं। अनेकरूपता और अंतरों को प्रमुखता देती है। उत्तर आधुनिकता की प्रमुख विशेषता मानव संसार की अजेय बहुलता है। उत्तरआधुनिकता के केन्द्र में उपेक्षित महिला, हाशिये तथा अश्वेत लोग आदि वर्ग माने जाते हैं। हमारे देश में इतिहासकारों ने जिसे अछूता नहीं या मुख्य धारा से हटाया था, वही आज उत्तरआधुनिकता का केन्द्रीय विषय है। साथ में संस्कृति को भी प्रधानता देती है। यथार्थता की खोज है संरचनावाद, बाहरी तौर पर हमें दिखाई देता है वह यथार्थता नहीं है, गहराई में जो छिपा है, वही संरचना है। पाश्चात्य ब्रिटीश

१ एस. एल. दोषी, *आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*. पृ. १५३.

२ वहीं

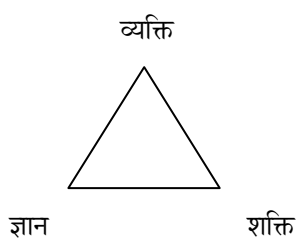
समाजशास्त्री गिडेन्स ने अपनी पुस्तक 'दि कोन्स्टीट्यूशन ऑफ सोसाईटी, १९८४ में संरचनाकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। उनका कहना है- “यह एक गंभीर भूल है कि हम समाज को समझने के लिए या तो व्यक्ति को आधार बनाते हैं या संरचना को। इसके बजाय हमें व्यक्ति और संरचना दोनों को अपनाना चाहिए। द्विविधा (Duality) समाज का सही विश्लेषण है”^१। संरचनावाद के विश्लेषण में दो धाराएँ हैं, एक मानवशास्त्रीय संरचनावाद, दूसरा संरचनात्मक मार्क्सवाद। इन दो धाराओं से उत्तर-आधुनिक संरचनावाद का अविर्भाव हुआ। ऐसा माना जाता है कि उत्तर संरचनावाद के जनक दरिदा से १९६६ में इसका प्रारंभ हुआ। उत्तर आधुनिकता को स्वर देनेवाले विचारकों एवं समाजशास्त्रीयों में प्रमुख हैं दरिदा और मिशल फूको। दरिदा विखण्डन को तथा फूको ज्ञान और शक्ति के संबन्धों को संरचनात्मक संबन्ध मानते हैं। आगे हम इन्हीं विचारकों के विचार का विश्लेषण करेंगे।

अंग्रेज़ी में जिसे 'डिकंस्ट्रक्शन' कहा जाता है, उसे हिन्दी में 'विखण्डन' कहा है। विखण्डन की यह विशेषता है कि वह किसी भी टैक्स्ट या पाठ में मौजूद अर्थ को सत्य या पूरा नहीं मानता। ये विखण्डन सार्थक संरचनाओं, संस्थानिक संरचनाओं, शिक्षणात्मक या अलंकारशास्त्रीय नियमों, कानून, सत्ता और उनके बाज़ार की प्रतिनिधित्व से संबन्धित है। विखण्डन की व्याख्या करते हुए दरिदा कहते हैं- “विखण्डन का मतलब होता है मूल पाठ को उसके निर्देश, संकेत, अनिश्चितता आदि के सन्दर्भ में पढ़ना। ऐसा करते हुए यह देखना कि इनमें कौन से अर्थ स्पष्ट है और कौन से अस्पष्ट। अस्पष्ट अर्थ को निकालना और तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरने पर उसे अस्वीकार करना ही विखण्डन है”^२। विखण्डन की अवधारण का सीधा संबन्ध भाषा से है। दरिदा कहते हैं- “मनुष्य को चेतना के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता भाषा के

१ एस. एल. दोषी, *आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. ४११.

२ वही, पृ. २९६.

आइने से पूरी की जाती है”^१। वे भाषा में वाणी को पहला स्थान देते हैं बाद में लेखन को। कुलमिलाकर कहा सकते हैं कि मनुष्य के स्व की पहचान समाज से होती है। जैसे समाज होता है वैसे ‘स्व’ की चेतना आती है। फूको ने ज्ञान एवं शक्ति में पूर्ण तादात्म्य देखा है, वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। फूको की सबसे बड़ी उपलब्धि उन्होंने जिन सिद्धान्तों को रखा है, वो लोगों के विचारों में क्रान्ति ला दी है। फूको का कहना है कि “सत्य शक्ति की परिधि से बाहर नहीं है। हर समाज में सत्य की अपनी एक व्यवस्था है, अपनी एक सामान्य नीति है”^२। फूको के चिन्तन की एक विशेषता है कि किसी भी किस्म के सार्वभौमिक विमर्शों को शक की नज़र से देखता है। दूसरी विशेषता यह है कि वह एक साथ सामाजिक- ऐतिहासिक है, फिर भी इतिहासवाद के विपरीत है। वे मनुष्य प्रकृति को हर बार नये ढंग से देखने में यकीन करता है, इसलिए वे तर्क की बहुलता में विश्वास करते हैं। ‘आरक्योलोजी आफ नोलेज’ नामक किताब में उन्होंने यह स्पष्टता से बताया है कि हमारे विश्वास, धारणाओं और मान्यताओं में जो अदृश्य है उसे अतीत में खोजकर दृश्य बनाना है। सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में शक्ति, ज्ञान और विमर्श की बहुत बड़ी भूमिका है और इसी पर उत्तर-आधुनिक समाज का निर्माण किया जाता है। इस तरह फूको की सभी कृतियों में एक त्रिकोण दिखाई देता है। वे हैं, ज्ञान (knowledge) शक्ति (power) और व्यक्ति (Subject)।



“ज्ञान और आदमी दोनों में एक ऐसी प्रक्रिया चलती है जिसमें ज्ञान व्यक्ति को समृद्ध करता है और व्यक्ति ज्ञान के भण्डार को और आगे बढ़ाता है। इसका मतलब है

१ वहीं

२ देव शंकर नवीन (सं), सुशांत कुमार मिश्र, उत्तर आधुनिकता कुछ विचार पृ. ४६.

कि व्यक्ति को ज्ञान से लाभ होता है और फिर अपने स्तर पर वह नये ज्ञान का उत्पादन करता है। ज्ञान से ज्ञान पैदा होता है और यह ज्ञान पैदा करने वाला व्यक्ति ही है। इस तरह ज्ञान की प्रक्रिया में व्यक्ति ज्ञान-प्राप्त भी करता है, और पैदा भी करता है। अब फूको व्यक्ति और ज्ञान के इस पारस्परिक संबंध को आगे बढ़ाते हैं। ज्ञान सामाजिक क्षेत्र में आता है। यानी ज्ञान को परिवार, वर्ग, जाति और समुदाय प्राप्त करते हैं और ज्ञान इन्हीं सामाजिक समूहों द्वारा पेश किया जाता है। शक्ति और ज्ञान वस्तुतः एक दूसरे से जुड़े हैं, इन्हें कदापि पृथक नहीं किया जा सकता। शक्ति है तो ज्ञान होगा, ज्ञान है तो शक्ति होगी^१। अतः हम कह सकते हैं कि व्यक्ति की परिभाषा ऐसे ज्ञान और शक्ति के मेल से होती है जो इतिहास के मोड़ पर हमेशा नया है।

१.१.१३. निष्कर्ष

साहित्य समाज का रचयिता है तथा समाज साहित्य को प्रतिबिम्बित तथा परिभाषित करता है। समाज के परिवर्तन के साथ साहित्य और साहित्य के परिवर्तन के साथ समाजशास्त्रीय दृष्टियों में भी परिवर्तन आजाना स्वाभाविक है। समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या करना साहित्य के समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। साहित्य के समाजशास्त्र को समाजशास्त्री समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हैं। तो साहित्य-चिन्तक उसे स्वतन्त्र साहित्य विधा मानते हैं। अब साहित्य का समाजशास्त्र समाजशास्त्र से स्वतंत्र एक साहित्य विधा के रूप में विकसित हो रहा है। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन के अंतर्गत, साहित्य, समाज एवं समाजशास्त्र के अर्थ और परिभाषा, सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन, समाजशास्त्र की धाराएँ एवं पद्धतियाँ आदि का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र सिर्फ साहित्य से ही नहीं अन्य शास्त्रों से भी संबन्ध रखते हैं। समाज

१ एस. एल. दोषी, *आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, पृ. २६९

का खण्ड-खण्ड परीक्षण करके उसकी असलियत को समाजशास्त्रीय अध्ययन से सामने ला सकता है।

संरचनावाद के विश्लेषण में दो धाराएँ हैं, एक मानवशास्त्रीय संरचनावाद दूसरा संरचनात्मक मार्क्सवाद। उल्लेखनीय बात यह है कि इन दो धाराओं से उत्तर आधुनिक संरचनावाद का आविर्भाव हुआ। उत्तर आधुनिक संदर्भ में बहु-संस्कृतियों का निवास रहता है और सभी समूहों को बोलने का अधिकार मिलता है। अतः उत्तरआधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता मानव संसार की अजय बहुलता है। उसके केंद्र में दलित, महिला, हाशिएकृत तथा अश्वेत लोग रहते हैं। दरिदा, फूको जैसे विचारकों ने 'विघटन' 'ज्ञान' और 'शक्ति' के संबन्धों को संरचनात्मक संबन्ध मानता है। इसलिए ज्ञान को परिवार, वर्ग, जाति और समुदाय प्राप्त करते हैं और ज्ञान इन्हीं सामाजिक समूहों द्वारा पेश किए जाते हैं।

समाजशास्त्रीय अध्ययन ही वह एक मात्र रास्ता है, जिससे साहित्य एवं समाज की वास्तविकता की जानकारी मिल सकती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी भी रचना के समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्व है। प्रत्येक साहित्यिक विधा के स्वरूप के अनुरूप ही समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है। भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहास में दलितों और स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए, भारतीय साहित्य में उनकी उपस्थिति और अनुपस्थिति के कारणों को खोजने-परखने में साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्ययन में साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का नये आयाम पर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।